पश्चिमी तर्क

दीवान चन्द, एम. ए.

विषय सूची

प्रथम काण्ड

भूमिका १
१—सुकरात से पूर्व का तर्क १४
२—सुकरात और उसके शिष्य २६
३—अफ़लातूं ४१
४—अरस्तु ५६
५—अरस्तु से पीछे ६६

दूसरा काण्ड

६—मध्य समय का तर्क ७८

तीसरा काण्ड

७—डेकार्ट और उस के शिष्य, स्पीनोज़ा, लाईबनिट्स ९७
८—लाक, बारक्लि, ह्यूम ११२
९—काण्ट १३९
१०—काण्ट के पीछे, जर्मनी का तर्क १६८
११—विकाश वाद १८२
शब्दार्थ संग्रह १९४



भूमिका

तर्क और साइंस

बहुत से पुरुष तर्क और साइंस दोनों शब्द बर्तते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि तर्क क्या बतलाता है ? और साइंस का काम क्या है ? इस अज्ञान के होते हुए भी वह जानते हैं कि तर्क और साइंस में भेद है । हम यहाँ इस भेद को समझने का यत्न करेंगे, क्योंकि इस भेद को समझकर हम जान सकेंगे कि तर्क क्या है ?

जब मैं एक फूल को देखता हूं, मुझे ज्ञान होता है; किन्तु यह ज्ञान इकहरा है, और अन्य अनुभवों के साथ इस की सङ्गति नहीं हुई, इसलिये यह अभी वैज्ञानिक ज्ञान नहीं । मैं शब्द सुनता हूं, यह अनुभव भी जब तक इकहरा है वैज्ञानिक ज्ञान नहीं । मेरे मन की बनावट मेरे मन के अनुभवों को पृथक् रहने नहीं देती; मुझ में स्वाभाविक इच्छा है कि इन अनुभवों को सम्मिलित करूं, इनके सम्बन्ध को जानूं, इन मणकों को एक सूत्र में परोकर एक माला तय्यार करूं । यह इच्छा स्वाभाविक है, और कोई मनुष्य इससे शून्य नहीं; हां और शक्तियों की भान्ति इसके सम्बन्ध में भी मनुष्यों में भेद है । हमारा समग्र जीवन अपने अनुभवों को संगठित करने में व्यय होता है । इस क्रम में पूर्व जगत एक गड़बड़ की अवस्था में होता है, हम इस अवस्था को जगह व्यवस्था उत्पन्न करते हैं । जब हम कई अनुभवों को एक सूत्र में परोकर इन्हें व्यवस्था में करते हैं, तो हमारा ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान कहलाता है । जैसाकि, मैं देखता हूं कि फल वृक्ष से पृथिवी पर गिरते हैं, मैं देखता हूं कि पृथिवी सूर्य्य के गिर्द घूमती है, मैं देखता हूं कि समुद्र में कहीं जल ऊपर उठते हैं और कहीं साधारण तल से नीचे चले जाते हैं । जब तक

मेरे यह अनुभव परस्पर असंबद्ध हैं, मेरा ज्ञान वैज्ञानिक (Scientific) ज्ञान नहीं, परन्तु जब मैं जान लेता हूं कि यह अवस्थायें एक ही नियम, गुरुत्व आकर्षण (Law of gravitation), के भिन्न २ रूप हैं, तो मेरा ज्ञान साईंटिफिक ज्ञान है। अब मेरे अनुभव पृथक् और स्वतन्त्र नहीं, किन्तु एक दूसरे के साथ बांधे गये हैं। इसी प्रकार जब मैं शब्द सुनता हूं और साथ ही जानता हूं कि मेरे सुनने से पूर्व वायु मण्डल में एक विशेष क्रिया हुई है, तो मेरा ज्ञान साईंटिफिक ज्ञान है। साईंस का काम अनुभवों को गठित करना अर्थात् उनके मध्य में भिन्न २ प्रकार के सम्बन्धों का स्थापन करना है। यह काम बहुत बड़ा है; इसलिये इसे भली प्रकार करने के लिये मनुष्य का मन श्रमविभाग के नियम पर अनुष्ठान करता है। एक साईंस की जगह कई साईंसें उत्पन्न होजाती हैं। इन में से प्रत्येक जगत को एक विशेष पहलू से समझना चाहती है।

साईंसों का विभाग भिन्न २ नियमों की नींव पर किया जा सकता है। एक अच्छा नियम जिसकी नींव पर हम इन्हें विभक्त करेंगे, इनकी सामान्यता व विशेषता है। सब से अधिक सामान्यता गणित (Mathematics) में है, क्योंकि इसका विषय आकाश और संख्या है, और इन पदार्थों के अतिरिक्त किसी विषय की हस्ती पर इसका निर्भर नहीं। हम कहते हैं कि त्रिकोण की दो रेखा तीसरे से बड़ी होती हैं। यह आकाश का एक गुण है; इसका अभिप्राय यह है, कि यदि हम आकाश में तीन बिन्दु सम्भावना करें, तो जो परिमाण इन में से दो दो के मध्य में होंगे, उन में कोई दो तीसरे से बड़े हैं? हम कहते हैं कि:—

$$(क+ख) (क-ख) = (क^2 - ख^2)$$

अर्थात् यदि हम कोई दो संख्या लें और योग और अन्तर को आपस में गुणा करें, तो फल इन दोनों के वर्गों के अन्तर का तुल्य होगा। यह कथन सर्वदा सत्य है, और यदि सारे प्राकृत जगत का नाश भी होजावे तो भी सत्य रहेगा। इसकी सत्यता किसी अंश में प्रकृति की हस्ती पर निर्भर नहीं रखती। यदि हमारे मन भी विद्यमान न

रहें, तो भी यह सम्बन्ध स्थिर रहेंगे, यद्यपि हमें इन का ज्ञान नहीं होता ॥

सामान्य दृष्टि से गणित से उतर कर जो साइंस आती है वह भौतिक विज्ञान (Physics) है, क्योंकि इसकी हस्ती के लिये आकाश और संख्या के अतिरिक्त प्रकृति की हस्ती भी आवश्यक है। भौतिक विज्ञान गणित की न्याईं जगत को इसके पारिमाणिक अंश में नहीं किन्तु एक प्राकृत पदार्थ की दृष्टि से समझने का यत्न करता है, और इसका काम है कि प्रकृति के सम्बन्ध में अनुगत नियमों का वर्णन करे। उदाहरण: इस के पाठ में, हम सीखते हैं कि:—

(१) प्रकृति का प्रत्येक भाग दूसरे भागों को अपनी ओर आकर्षण करता है।

(२) यदि कई पदार्थ जो भिन्न २ विशेष गुरुत्व रखते हैं, एकत्र किये जावें और वह क्रिया कर सकते हों, तो वह अपने आप को एक तरतीब में डाल देवेंगे: जैसाकि पारा, घी और दूध मिलाये जावें तो पारा सब से नीचे होजावेगा, इस के ऊपर दूध और उस के ऊपर घी।

(३) प्रकाश की किरणें सीधी लकीर में क्रिया करती हैं।

भौतिकी के लिये प्रकृति की आवश्यकता है, किन्तु प्रकृति में जाति भेद की आवश्यकता नहीं। भौतिकी के नियम किसी अंश में प्रकृति के जाति भेदों पर निर्भर नहीं रखते। इन नियमों की दृष्टि से इन भेदों का होना न होना एक बराबर है। जो साइंस इन भेदों की नींव पर ही स्थापित की जासकती है और इसलिये भौतिकी से अधिक विशेषता रखती है, वह रसायन (Chemistry) है। इस का विषय भिन्न २ प्रकार की प्रकृतियों का संयोग और वियोग है। इस के पाठ से हम जानते हैं कि ऑक्सिजन और हाईड्रोजन मिल कर पानी बनाते हैं, और पानी के विच्छेद से यह दोनों उत्पन्न हो सके हैं। गन्धक के तेजाब में हाईड्रोजन और ऑक्सिजन और गन्धक विशेष अपेक्षा में संलीन होती हैं। यदि प्रकृति एक प्रकार की होती तो भौतिकी का होना सम्भव था, परन्तु रसायन विद्या नहीं हो सक्ती थी।

रसायन के सम्बन्ध में जो तजरबे किये जाते हैं, उन में बहुतों में हम देखते हैं कि यदि एक मिश्रित पदार्थ का विच्छेद करके हम विशेष पदार्थों को प्राप्त करते हैं, तो इन पदार्थों के मेल से इस मिश्रित पदार्थ को भी फिर उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु कई अवस्थाओं में ऐसा भी होता है कि यद्यपि विच्छेद करना सुगम काम है, तथापि मूल तत्वों को मिलाकर मिश्रित पदार्थ का बनाना हमारी शक्ति से बाहिर है। जल का विच्छेद करना और फिर मूल तत्वों को जल बना लेना हमारे वश में है; परन्तु जब हम एक पुष्प के साथ तजरबा करते हैं, तो देखते हैं कि यद्यपि हम उसका विच्छेद करके उसके मूल तत्वों को जान सके हैं, तथापि उन को मिलाकर पुष्प बनाने में हम असमर्थ हैं। पुष्पों का बनाना प्रकृति ने अपने हाथ में रक्खा है। पुष्प केवल एक मिश्रित पदार्थ नहीं, परन्तु इस में एक और नियम भी प्रवेश करता है, और वह जीवन है। इस में वृद्धि की शक्ति है; यह दूसरे पदार्थों का विच्छेद करके उसे भी अपने अङ्ग बना लेता है। इसलिये जीवन का वर्णन एक और साइंस का काम है, और वह जीवन विद्या (Biology) है। यह साइंस जगत को एक जीवित पदार्थ की दृष्टि से देखती है। जीवन का प्रकाश बनस्पतियों और जन्तुओं में होता है। यहां फिर श्रमविभाग होता है और बनस्पति विद्या (Botany) और जन्तु विद्या (Zoology) दो भिन्न प्रदेशों में काम करती हैं।

शारीरिक दृष्टि से मनुष्य दूसरे पशुओं के तुल्य है, इसलिये वह भी जन्तु विद्या का विषय है। परन्तु शरीर के अतिरिक्त मनुष्य में एक और वस्तु भी है, और वही मनुष्य का एक विशेष चिन्ह है। यह उसका मन है; इसके समझने के लिये एक विशेष साइंस की आवश्यकता है और यह साइंस मनो विज्ञान (Psychology) है। एक दृष्टि से यह सर्व प्रधान है। जैसा एक तार्किक का कथन है, पृथिवी पर कोई पदार्थ महान नहीं जैसा मनुष्य है, और मनुष्य में कोई अंश इतना महान नहीं जितना उसका मन है। मनुष्य के मन का पाठ मनुष्य के लिये सब से अधिक उपयोगी और लाभकारी है। मनोविज्ञान हमें बताता है कि हमारा मन किस प्रकार से अपना

काम करता है? इसकी शक्तियें क्या हैं? और उनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है? हम किस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं? किस प्रकार अनुमान करते हैं? किस प्रकार चिन्तन करते हैं? हमारे सुखी दुःखी होने की, क्रिया करने की, और क्रिया की इच्छा को रोकने की रीति क्या है? इस सांइस के साथ न्याय (Logic), आचार शास्त्र (Ethics) और सौन्दर्य्य विद्या (Aesthetics) का विशेष सम्बन्ध है। इन तीनों को सांइस का नाम देना उपयोगी नहीं, क्योंकि इनका काम किसी प्रकार के अनुभवों का गठित करना नहीं, किन्तु आदर्शों का समालोचन करना है। इन में से प्रत्येक का मनोविज्ञान के एक विशेष भाग के साथ सम्बन्ध है। मनोविज्ञान बताता है कि हम किस प्रकार अनुमान करते हैं; यथार्थ और अयथार्थ अनुमान दोनों इसकी दृष्टि में विचार के योग्य हैं। न्याय बताता है कि हमें कैसे अनुमान करना चाहिये; यथार्थ और अयथार्थ का भेद इसकी दृष्टि में सर्व प्रधान है। इसी प्रकार मनोविज्ञान बताता है कि हम किस प्रकार क्रिया करते हैं; अच्छे बुरे का भेद इसकी दृष्टि में गौरव नहीं रखता। इसके विरुद्ध आचार शास्त्र बताता है कि हमें कैसे काम करने चाहियें? क्रिया में आदर्श क्या है? अच्छे बुरे के भेद को स्पष्ट करना इसका मुख्य उद्देश है। मनोविज्ञान कहता है कि किन अवस्थाओं में हम किसी पदार्थ को सुन्दर कहकर उस से प्रसन्नता प्राप्त करते हैं? और किन अवस्थाओं में उसे कुरूप कहकर उस से घृणा करते हैं? सौन्दर्य्य विज्ञान बताता है कि इस विषय में आदर्श क्या है? और किन लक्षणों के कारण हमें किसी पदार्थ को सुन्दर अथवा कुरूप कहना चाहियें? न्याय, आचारशास्त्र और सौन्दर्य्य ज्ञान का विषय वह नहीं जो वास्तव में है, परन्तु वह जो होना चाहिये। इसलिये इन तीनों को आदर्श शास्त्र (Normative Sciences) कहा जाता है।

मनोविज्ञान एक विशेष मन की अवस्थाओं का वर्णन और उनका समाधान करता है। इस से भी अधिक असामान्य सांइस सामाजिक शास्त्र (Sociology) है, क्योंकि इसका विषय एक मनुष्य का मन नहीं, प्रत्युत समाज का मन है। इसका पाठ हमें बताता है

कि भिन्न२ समाजों की मानसिक अवस्था क्या है ? और एक समाज अपनी वृद्धि में किन २ अवस्थाओं से होकर गुज़रती है ?

इन साईंसों की बाबत विचार करते हुए हमने देखा है कि—

(१) इनमें से प्रत्येक अपने अनुसन्धान के लिये एक विशेष, सीमित, ज्ञान का भाग चुन लेती है, और इससे बाहिर की सृष्टि की बाबत कदापि चिन्तन नहीं करती। गणित को इस बात से कुछ सम्बन्ध नहीं कि संसार में प्रकृति है व नहीं; और यदि है तो एक प्रकार की है, अथवा अनेक प्रकार की; यदि अनेक प्रकार की है, तो औक्सिजन और हाइड्रोजन मिलकर जल बनाते हैं व तेज़ाब। इसका काम केवल आकाश और संख्या के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना है। इसी प्रकार रसायण जीवन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहती, जीवन का होना न होना इसकी दृष्टि में समान है, क्योंकि इसने अपने लिये एक विशेष काम चुन लिया है, और वह भिन्न २ प्रकृतियों का मिलाप और विच्छेद है।

(२) प्रत्येक साईंस अपनी इमारत एक नींव पर खड़ी करती है। यह नींव ऐसे नियम हैं जिनको साईंस फ़रज़ कर लेती है। भौतिकी प्रकृति के प्रकाश का वर्णन करती है, परन्तु यदि हम इस से पूछते हैं कि प्रकृति के होने से क्या प्रमाण है, तो भौतिकी उत्तर देगी "प्रकृति की हस्ती को सिद्ध करना मेरा काम नहीं, मैं अपना काम प्रकृति की हस्ती को फ़रज़ करके आरम्भ करती हूं"। इसी प्रकार मनोविज्ञान हमारे मन की अवस्थाओं का वर्णन करता है, परन्तु यदि हम पूछें कि मन की हस्ती का क्या प्रमाण है? व मन का वास्तविक स्वरूप क्या है ? तो यह साईंस कहेगी कि इन प्रश्नों का उत्तर देना इसका काम नहीं। कोई साईंस इन मूल नियमों की जिनकी नींव पर यह अपनी इमारत खड़ी करती है समीक्षा नहीं करती।

इन दोनों बातों में तर्क साईंस से भिन्न है। तर्क का काम यह नहीं कि जगत को एक विशेष दृष्टि से देखे व अनुसन्धान के लिये एक विशेष भाग को चुनले; प्रत्युत इसका काम सारे ज्ञान को संगठित करना है। एक साईंस दूसरी साईंसों के परिणामों के सम्बन्ध में निष्पक्ष होसक्ती है, परन्तु फ़लसफ़ा किसी साईंस के परिणाम को

सम्बन्ध में निष्पक्ष नहीं होसक्ता । तर्क का काम है कि यदि कोई दो सांईस विरुद्ध परिणामों पर पहुंचती हैं, तो इन दोनों की प्रतिज्ञाओं की परीक्षा करे और उनके झगड़े का निर्णय करे।

एक उदाहरण से यह स्पष्ट होजायेगा। प्रत्येक सांईस एक नियम का राज्य चाहती है और इस नियम का अन्वेषण करना इस का काम है। मनोविज्ञान सांईस है और इसलिये इसका लाभ इस में है कि मानसिक जीवन में भी बाह्य जगत की भान्ति एक नियम का राज्य हो। मैं एक पत्थर को अपने हाथ से फेंकता हूं। पत्थर कहां जाकर गिरेगा और किस मार्ग से जायेगा? यह निम्नलिखित व ऐसी ही और बातों पर निर्भर है :—

मैं कितने बल से इसे फेंकता हूं?

इसका बोझ कितना है?

मार्ग में वायु व और पदार्थ कितना निरोध करते हैं?

पत्थर का मार्ग इसकी अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं रखता; पत्थर को अपनी क्रिया में एक नियम के अधीन रहना होता है। मनोविज्ञान सांईस होने की अवस्था में इच्छा करता है कि मानसिक क्रियाएं भी इसी प्रकार नियम के अधीन हों। इस भाव के अनुसार मनुष्य और पत्थर में भेद केवल चैतन्यता का होगा; पत्थर से विशेष क्रिया कराई जारही है, और उसे इसका ज्ञान नहीं; मुझे अपनी क्रियाओं का ज्ञान है, परन्तु वह भी (पत्थर की क्रिया की भान्ति) मुझ से कराई जारही हैं, वह मेरी इच्छा पर निर्भर नहीं रखतीं। मनोविज्ञान का लाभ इस में है कि मनुष्य स्वतन्त्र न हो। दूसरी ओर आचार शास्त्र को देखें। मुझ से कहा जाता है, कि मैं एक विशेष काम करूं और एक विशेष काम न करूं। यहां फ़र्ज़ किया जाता है कि किसी काम का करना न करना मेरे वश में है। पत्थर के कर्तव्यों का वर्णन करना निरर्थक है क्योंकि पत्थर के लिये केवल एक ही मार्ग है, और वह बाह्य शक्तियों ने नियत किया है। मैं अपने कर्त्तव्य का वर्णन करता हूं, क्योंकि मैं समझता हूं कि मेरे लिये दो व इससे भी अधिक मार्ग खुले हैं, और यह बात कि कौन मार्ग में अपना मार्ग बनाऊं, मेरे वश में है। यदि मेरा यह

भाव ठीक नहीं तो कर्तव्य और आचार शास्त्र दोनों का वजूद नहीं रह सकता। जैसा काण्ट ने कहा है, 'मेरे कर्तव्य हैं, इस लिये मैं स्वतन्त्र हूं'। आचार शास्त्र मनुष्य को स्वतन्त्र वर्णन करता है।

अब मनोविज्ञान और आचार शास्त्र में विरोध होता है। यह दोनों एक दूसरे की प्रतिज्ञाओं को निष्पक्षता की दृष्टि से देख सकते हैं, परन्तु तर्क का काम इन दोनों की प्रतिज्ञाओं की परीक्षा करना और इन में से एक के पक्ष में अपनी सम्मति देना है।

तर्क का दूसरा काम यह है कि जिन नींवों पर साईंसें खड़ी हुई हैं उनकी परीक्षा करे। क्या वह नीवें दृढ़ हैं व रेत अथवा वायु की हैं? कोई साईंस अपने मूल नियमों की परीक्षा नहीं करती। तर्क का काम है कि इन नियमों की परीक्षा करे और इनके मूल्य का निश्चय करे।

उदाहरण:—

भौतिकी फ़रज़ करती है कि प्रकृति है, फ़लसफ़ा इसकी छान बीन करता है; मनोविज्ञान फ़रज़ करता है कि मेरा मन है और जिन प्राकृत पदार्थों का मुझे ज्ञान होता है, मेरे मन के बाहिर हैं, फ़लसफ़ा पूछता है कि मन क्या है और कोई पदार्थ मन से बाहिर हो भी सकता है व नहीं? इत्यादि।

तर्क का विशेष सम्बन्ध इन नीवों से है जिन पर साईंसों ने अपनी इमारतों को खड़ा किया है। अब हम साईंस और तर्क के भेद को समझने के योग्य हैं:—

(१) प्रत्येक साईंस अपने अनुसन्धान के लिये एक विशेष भाग चुन लेती है, जगत को एक विशेष दृष्टि से देखती है। तर्क में यह सङ्कोच नहीं होता; इसका काम सारे ज्ञान को गठित करना है।

(२) प्रत्येक साईंस अपनी इमारत विशेष नीवों पर खड़ी करती है, और इन नीवों के विषय में छान बीन नहीं करती; तर्क का काम इन सब मूल नियमों के विषय में अनुसन्धान करना है, और इसलिये तर्क सब साईंसों का समीक्षक है।

वास्तव में यह तर्क (Metaphysics) का काम है; परन्तु साधारण बोलचाल और लेखों में इस में मनोविज्ञान, न्याय, आचार शास्त्र और सौन्दर्य्य विद्या भी सम्मिलित की जाती हैं। इस पुस्तक

में हम देखेंगे कि तार्किक इन विद्याओं के सम्बन्ध में भी विचार करते रहे हैं।

पश्चिमी तर्क

तर्क पर लिखते हुए लेखक के सामने निम्न लिखित तीन मार्ग खुले हैं—

(१) वह मोटे २ सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष का वर्णन करके अपने मत का प्रकाश कर दे।

(२) ऐतिहासिक तौर पर इन सिद्धान्तों के विषय में जो कुछ तार्किकों ने कहा है, उसे इकट्ठा कर दे।

(३) तर्क का इतिहास लिखे जिससे पता लग सके कि किस प्रकार एक के पीछे दूसरा सम्प्रदाय खड़ा हुआ और खण्डन मण्डन में अपना चमत्कार दिखला गया।

मैंने इस पुस्तक के लिये तृतीय मार्ग को स्वीकार किया है और यत्न किया है कि पश्चिमी तर्क का संक्षिप्त वृत्तान्त अपने देश भाईयों की भेंट करूं। यह इतिहास ढाई सहस्र वर्षके लगभग समय का इतिहास है। परन्तु इस सारे समय में मनुष्य की तार्किक बुद्धि निरन्तर काम नहीं करती रही : कई शताब्दीयें व्यतीत हुई हैं जिन में नाम के योग्य कोई काम नहीं हुआ। मैं जब कभी पश्चिमी तर्क के इतिहास की ओर दृष्टि डालता हूं, तो मुझे वोह मनोरंजक यात्रा स्मरण आती है, जो मैंने कालका से काङ्गड़ा पर्य्यन्त की है। पहाड़ी मार्गों का चढ़ना उतरना तर्क के इतिहास का विशेष चिन्ह नहीं; यह तो मनुष्य जाति की प्रत्येक भान्ति की उन्नति में दीख पड़ता है। मानसिक उन्नति के दूसरी अंशों में भी आराम और निद्रा का समय आता है; परन्तु इस उतार, चढ़ाव, आराम और निद्रा को छोड़ कर भी मुझे पश्चिमी तर्क के इतिहास में और ऊपर लिखी यात्रा में एक विशेष समानता दिखाई देती है। इस यात्रा में हम कालका से चलते हैं और कुछ काल के अनन्तर कसौली में पहुंचते हैं। कालका से कसौली तक पर्वतमय मार्ग है, परन्तु इस में कोई स्थान विश्राम करने के योग्य नहीं। यह

केवल हमें कसौली पहुंचाने के लिये है । कसौली पहला पहाड़ी नगर है जिस में हम इस यात्रा में पहुंचते हैं । कसौली से आगे कई पहाड़ियां दिखाई देती हैं; शिमला इन सब में प्रधान है; यह नगर अपनी रौनक के लिये प्रसिद्ध है, और ग्रीष्म ऋतु में सरकार की राजधानी है । शिमले से आगे बढ़ें, तो सब से प्रसिद्ध पहाड़ी नारकण्डा है। यह शिमले से अधिक ऊंची है, और इस पर खड़े होकर हमारी दृष्टि अधिक विस्तार को देख सकती है। नारकण्डा से लूहरी पहुंचने के लिये हमें नौ सहस्र फुट की ऊंचाई से तीन सहस्र की ऊंचाई पर्य्यन्त नीचे गिरना होता है; और यद्यपि यह स्थान मैदानी इलाके की अपेक्षा ऊंचा है, तो भी नारकण्डा और शिमले के पीछे इसे पहाड़ी इलाका कहने का साहस हम में नहीं होता । लूहरी से हम ऊपर चढ़ते हैं और दलाश, चुवाई आदि पहाड़ियों पर पहुंचते हैं। यह स्थान नारकण्डे और शिमले से ऊंचे नहीं, परन्तु लूहरी की अपेक्षा बहुत ऊंचे हैं। इनसे आगे बढ़कर हमें जिब्बी और भब्बु जोतों की सुन्दर चोटीयां दिखलाई देती हैं, जिनसे गुज़रना हमारी यात्रा का मुख्य प्रयोजन होता है । उनमें गुज़र कर हम फिर नीचे उतरते हैं, और यद्यपि हम पहाड़ियों पर हैं तो भी जिब्बी और भब्बु की चोटीयों को देखने के लिये हमें ऊपर देखना पड़ता है ।

जैसा इस पुस्तक के पाठ से विदित होगा, आरम्भ में यूनान तर्क का घर था। यूनान के तर्क में सुकरात, अफलातूं और अरस्तु के नाम जगत में प्रसिद्ध हैं । सुकरात से पूर्व के तर्क का मुख्य काम हमें सुकरात पर्य्यन्त पहुंचाना है । जिस प्रकार हमारी यात्रा में कसौली पहिला अच्छा पहाड़ी स्थान था, इस प्रकार सुकरात यूनानी तर्क में प्रथम बड़ा तार्किक है । सुकरात के पश्चात् अफलातूं आता है और शिमले की भान्ति बहुत ऊंचा है। मुझे इसकी बुद्धि एक राजकीय बुद्धि प्रतीत होती है। इसके विचार ठीक हों व न हों, वह महान् है। जिस प्रकार नारकण्डा शिमले से ऊंचा है, इसी प्रकार अरस्तु की आंखें अफलातूं से अधिक देखने वाली हैं । अरस्तू विज्ञान, न्याय आदि में भी शिक्षा देता है और इसमें वह सङ्कोच नहीं जो अफलातूं में है। अरस्तु के पीछे हम गढ़े में गिर पड़ते हैं और कई शताब्दीयों पर्यन्त

जो कुछ पश्चिमी तर्क ने किया है, इसे अफलातूं और अरस्तु के काम के मुकाबले में तर्क कहने में भी लज्जा आती है। नवीन तर्क हमें फिर पहाड़ों पर ले जाता है और यद्यपि हम अभी अफलातूं और अरस्तु के साथियों को नहीं देखते, तो भी व्यतीत समय की अपेक्षा बहुत उन्नति प्रतीत होती है। इस नवीन तर्क में हमें काण्ट और हेगल मिलते हैं, जिनका कद तार्किकों के सारे समूह में ऊंचा है। इन से पीछे तार्किक हुए हैं, परन्तु काण्ट और हेगल को देखने के लिये हमें ऊपर की ओर देखना पड़ता है।

इतिहास का लिखने वाला बड़ी से बड़ी भूल जो कर सक्ता है, वह यह है कि तार्किकों के जीवन और उनकी शिक्षा का वर्णन करदे और उनके परस्पर सम्बन्ध को जानने और बतलाने का यत्न न करे। मैं अपने पाठ में यह जानने का प्रयत्न करता रहा हूं कि क्यों एक सम्प्रदाय एक विशेष समय में खड़ा हुआ? और क्यों उसने विशेष सिद्धान्तों का प्रचार किया? इस दृष्टि से पश्चिमी तर्क का इतिहास क्या है? उस यत्न का वृत्तान्त है जो मनुष्य की तार्किक बुद्धि ने ढाई सहस्र वर्ष के लग भग जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर देने में किया है। मैं जानता हूं कि मैं कई बातों को नहीं समझ सका, परन्तु मैंने यत्न किया है कि सारे इतिहास की क्रम सङ्गति को दिखाया जावे।

तर्क के मुख्य प्रश्न

तर्क का मुख्य प्रश्न मनुष्य की अपनी बाबत है। मैं कहां से आया हूं? मैं क्या हूं? मेरा अन्त क्या होगा? मनुष्य अपने आप को प्राकृत जगत से घिरा हुआ देखता है। इस जगत की बाबत पूछता है कि यह क्या है? और कहां से आया है? इसका बनाने वाला इसका अंश है व इस से स्वतन्त्र है? यदि इससे स्वतन्त्र है तो उसका स्वरूप क्या है? क्या मनुष्य का जीवन इस जगत के सम्बन्ध में ही व्यतीत होता है व कोई और हस्ती भी है जो इसके जीवन में दखल रखती है? यह प्रश्न तर्क के मुख्य प्रश्न है और जैसा हमारे पूर्वजों ने इनके सम्बन्ध में अपनी बुद्धि को

लगाया है, इसी प्रकार पश्चिमी तार्किकों ने भी किया है। ऐसे तो यह प्रश्न सारे समयों में हुए हैं, किन्तु यूनानी तर्क के सामने विशेष प्रश्न व्यक्ति और जाति का था। यह संसार कहां से आया है? और इसका कारण क्या है? सुकरात से पूर्व यूनानी तर्क प्रकृति का तर्क था; उसके पश्चात् यह मानसिक तर्क बनगया। मध्य समय में तर्क का प्रधान प्रश्न जीवात्मा और परमात्मा का योग था और तर्क का मुख्य काम धर्म्म की रक्षा करना था। नवीन तर्क में मुख्य प्रश्न ज्ञान का है। हमारे मन में और बाह्य जगत में क्या सम्बन्ध है? मैं किस प्रकार अपनी उंगली को देख सक्ता हूं और इसे हिला सक्ता हूं? मेरा ज्ञान कहां तक जासक्ता है? ज्ञान की सम्भावना क्यूंकर होसक्ती है?

हम एक मन्दिर के बाहिर खड़े हैं और इसके अन्दर जो मनोरञ्जक पदार्थ हैं, उनके सम्बन्ध में कह रहे हैं। अब समय है कि हम इस वार्तालाप को समाप्त करें और मन्दिर का द्वार खोल कर अन्दर प्रवेश करें और उन पदार्थों का साक्षात् दर्शन करें।

डी. ए. वी. कालेज,
लाहौर।
२५–१०–१९११

दीवान चन्द

प्रथम काण्ड।

प्राचीन यूनान का तर्क।

एक ऐसे पुरुष के लिये जो पश्चिमी तर्क के इतिहास का पाठ करना चाहता है, कोई स्थान इतना मनोरञ्जक नहीं जितना प्राचीन यूनान है। यहां से पश्चिमी तर्क का आरम्भ हुआ; यहां के लोगों ने ऐसे २ उच्च भावों को प्रकट किया कि आज पर्य्यन्त उनका नाम सूर्य्य के समान देदीप्यमान हो रहा है। दो सहस्र वर्षों से अधिक व्यतीत होने पर भी यह लोग हमारी बुद्धियों पर राज्य करते हैं, और तर्क के कई भागों में बीसवीं शताब्दी का भाव उनके भावों से बहुत आगे नहीं। आज कोई पुरुष सुशिक्षित कहलाने का अधिकार नहीं रखता जो सुकरात, अफलातूं और अरस्तु की शिक्षा से सर्वथा अबोध हो; अनपढ़ों में भी बहुत थोड़े हैं जो इनके नामों से अपरिचित हों। सुकरात, अफलातून और अरस्तु की शिक्षा में यूनानी तर्क अपनी उन्नति के शिखर पर था; किन्तु यह कहना भूल है कि यूनानी तर्क का प्रारम्भ सुकरात से हुआ, और अरस्तु के साथ इसका अन्त होगया। यूनानी तर्क में यह तीनों नाम अधिकतर प्रसिद्ध हैं, और दैवयोग से इनके काम का युग एक दूसरे से मिलता है; इस कारण से युनानी तर्क का इतिहास तीन भागों में विभक्त किया जासक्ता है :-

(१) सुकरात से पूर्व का तर्क।

(२) सुकरात, अफलातूं और अरस्तु का तर्क।

(३) अरस्तु के पीछे का तर्क।

अब हम इन तीन भागों का वर्णन पृथक् २ करेंगे।

प्रथम अध्याय।

सुकरात से पूर्व का तर्क।

(१) मिलिटस (Miletus) का सम्प्रदाय—

सृष्टि का उपादान कारण क्या है?

यूनानी तर्क का प्रारम्भ विशेष यूनान में नहीं, प्रत्युत यूनान की एक बस्ती मिलिटस में हुआ। मिलिटस के तार्किकों के सामने प्रश्न यह था कि यह सृष्टि किस पदार्थ से बनी हुई है, और कैसे बनी है?

थैलिस (Thales) की सम्मति है कि यह सृष्टि एक ही तत्व से बनी है, और वह तत्व जल है। इसी पर सब वनस्पती और पशु पक्षियों के जीवन का आधार है॥

एनेक्सिमैंडर (Anaximander) की सम्मति है कि जल वास्तविक तत्व नहीं, प्रत्युत वास्तविक तत्व से बने हुए पदार्थों में से एक है। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है, जिसकी कोई विशेष आकृति नहीं। वह प्रकृति विशेष२ आकृतियों को धारण करके पृथिवी, जल, वायु आदि की अवस्था में परिणत होती है। इसी से सब वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, और अन्त में इसी में संलीन हो जाती हैं॥

एनेक्सेमिनिज़ (Anaximenes) थैलिस से प्राया मिलता है, क्योंकि उसकी सम्मति में सृष्टि का उपादान कारण आकार रहित प्रकृति नहीं, प्रत्युत वायु है। वायु देश की दृष्टि से अनन्त है; काल की दृष्टि से भी यह निस्सीम अर्थात् अनादि है। जिस प्रकार वायु मनुष्य जीवन का आधार है, उसी प्रकार सारी सृष्टि का आश्रय भी है, और इसे चारों ओर से घेरे हुए है। वायु एक सम सूक्ष्म और स्थूल नहीं रहता किन्तु इसके परमाणु एक दूसरे के निकट आते व एक दूसरे से दूर जाते रहते हैं। यह परिवर्तन इसकी भिन्न२ अवस्थाओं का कारण है। अधिक स्थूल होने से वायु से अग्नि उत्पन्न होती है,

अग्नि से क्रिया-करती-हुई-वायु, इससे बादल, बादल से जल, जल से भूमि, भूमि से पत्थर।

मिलिटस के तार्किकों के सन्मुख सृष्टि के उपादान कारण का प्रश्न था, और उत्तर एक ही प्रकार का था। थैलिस ने कहा, "जल उपादान कारण है", ऐनैक्सिमैंडर ने कहा, "अव्यक्त उपादान कारण है", एनक्सेमिनिज़ ने यह पदवी वायु को दी। यहां तक यूनानी तर्क एक ही प्रकार का है। किन्तु उन्नति भेद पर निर्भर है, और तर्क की उन्नति के लिये आवश्यक है कि इसके अधिक सम्प्रदाय हों और उन में विरोध हो।

जिस प्रश्न पर सब से पूर्व विवाद प्रारम्भ हुआ, वह यह था— अस्तित्व (हस्ती, Being) सदा स्थिर रहता है; भिन्न २ वस्तुएं बनती हैं और टूटती हैं, उत्पन्न होती हैं और नाश होजाती हैं। हस्ती स्थिर रहती है, और स्थिर नहीं भी रहती; यह क्या भेद है? इस प्रश्न पर विचार हुआ और इसके तीन उत्तर दिये गये।

कइयों ने कहा, 'हस्ती स्थिर रहती है, परिवर्तन कहीं नहीं होता, यह हमारा भ्रम है जिसके कारण हम समझते हैं कि परिवर्तन जगत में है'। एक दूसरी श्रेणी ने कहा, 'परिवर्तन का स्वरूप है और इसके अतिरिक्त और किसी पदार्थ का स्वरूप नहीं; जिसको हम स्थिर रहने वाली हस्ती कहते हैं, उसका स्वरूप कल्पना में हो तो हो किन्तु वस्तुतः संसार में नहीं है'। तीसरी श्रेणी ने कहा, 'इन दोनों भावों में सत्यता का अणु विद्यमान है, किन्तु इनमें से कोई पूरी सच्चाई नहीं; पदार्थ सदैव स्थिर रहने वाली हस्ती रखते हैं, उनके सम्बन्ध एक दूसरे से परिणत होते हैं'। तीनों के सन्मुख प्रश्न परिवर्तन का है। एक श्रेणी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती; दूसरी केवल परिवर्तन पर विश्वास रखती है; तीसरी परिवर्तन का समाधान करती है।

(२) इलिया (Elea) के तार्किक।

परिवर्तन एक भ्रम है।

जब ऐनैक्सिमैंडर मिलिटस में शिक्षा दे रहा था, ज़िनौफेनिज़ (Zenophanes) ने इलिया में जाकर एक नवीन सम्प्रदाय

की नींव डाली। यह पुरुष जातीय देवी देवताओं के विरुद्ध था, और कहता था कि परमात्मा एक है, वह सब कुछ देखता है, सब कुछ सुनता है, ज्ञानस्वरूप है, यूनान के देवी देवताओं के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है, निज सङ्कल्पों की पूर्ति के लिये उसे इधर उधर जाने की आवश्यकता नहीं, किसी प्रकार के क्लेश के बिना, केवल चेष्टा मात्र से ही, वह जगत पर शासन कर रहा है, वह जन्म और मरण के बन्धन में नहीं आता। केवल उसी अकेली अनन्त हस्ती की पूजा करनी चाहिये।

पारमेनिडिज़ (Parmenides) ने अपने गुरु ज़िनोफ़ेनिज़ की शिक्षा को पूर्ण किया और ऐक्यवाद की नींव डाली। वह कहता है कि यह समझ में ही नहीं आसक्ता कि किस प्रकार कोई वस्तु अपने से भिन्न कुछ बन सकती है। प्रत्येक पदार्थ जो कुछ है, उस के अतिरिक्त कुछ बनना उस के लिये असम्भव है। यदि कहा जावे कि हम अपनी इन्द्रियों द्वारा परिवर्तन देखते हैं, तो उस का उत्तर यह है, कि सत्यज्ञान इन्द्रियों से नहीं प्राप्त होता। वास्तव में एक ही तत्व है जो सदा एक सम रहता है। जिन लोगों की आंखें विकृति से परे नहीं जातीं, उन के लिये ज़िनोफेनिज़ कहता है कि इस दृश्य संसार में दो वस्तुएं हैं—प्रकाश और अन्धकार। इन्हें अग्नि और पृथिवी, व पुरुष और स्त्री के नाम से भी पुकारा जाता है। सब वस्तुएं इन के मिलाप से उत्पन्न हुई हैं। वर्तमान दृश्य सृष्टि के मध्य में बड़ी अग्नि है, जहां बडे देवता का स्थान है; इस के चारों ओर कई चक्कर हैं जिन में प्रकाश और अन्धकार मिले हुए हैं, और सब के अन्त में ज्वाला की एक दीवार है।

ज़यनो (Zeno) तर्कशास्त्र का पिता समझा जाता है, और विशेषकर उन तर्कों के लिये प्रसिद्ध है जो उस ने क्रिया के विरुद्ध दीये हैं। ज़यनो कहता है कि हम कभी क से ख तक नहीं पहुंच सकते, क्योंकि इस फ़ासले को हम दो भागों में बांट सकते हैं, और इन में से प्रत्येक भाग दो और भागों में बांटा जासक्ता है। कोई ऐसी अवधि नहीं जहां जाकर हम कह सकें कि आगे विभाग असम्भव है। यह फ़ासला बिन्दुओं के मिलाप से बना है, और बिन्दु का कोई परिमाण नहीं। इसलिये यह फ़ासला अनन्त भागों में विभक्त हो

सकता है और अनन्त है। इस तर्क से ज़यनो इस परिणाम पर पहुंचता है कि छोटे से छोटा फ़ासला अनन्त होने के कारण से समाप्त नहीं होसक्ता, और इसलिये क्रिया का वजूद केवल भ्रम है। *

प्रतिपक्षी कहेगा, कि हम प्रतिदिन बाण को एक स्थान से क्रिया करके दूसरे स्थान पर पहुंचता देखते हैं; ज़यनो का उत्तर यह है कि यद्यपि बाण क से ख पर्य्यन्त पहुंच जाता है, तथापि उसने क्रिया सर्वथा नहीं की। अब यह ख पर स्थित है, पहले क पर स्थित था; इन दोनों कालों के मध्य में ग पर जो क और ख के ठीक मध्य पर है, स्थित था। इसी प्रकार यदि क—ख को सहस्रों भागों में विभक्त करें; तो विभाजक विन्दुओं में से प्रत्येक पर एक समय में बाण स्थिर था। एक विन्दुपर एक समय में स्थिर होना क्रिया नहीं, किन्तु क्रिया का अभाव है। क्योंकि छोटे से छोटा फ़ासला भी विभक्त होसक्ता है, और बाण विशेष काल में प्रत्येक विन्दु पर होता है, ठीक वर्णन यह है कि बाण ने क्रिया बिलकुल नहीं की, किन्तु प्रत्येक विन्दु पर जो रेखा क—ख का भाग है, विश्राम किया है॥

---

* इसी युक्ति का एक रूप वह प्रसिद्ध पहेली है, जो Achilles and Tortoise के नाम से विख्यात है। फ़रज़ करो सहा क पर खड़ा है, इस से एक सौ गज़ पर कछुआ है। सहा दश गज़ प्रति मिंट से चलता है, कछुआ मिंट में एक गज़ चलता है; दश मिंटों में सहा ख पर पहुंच जावेगा, परन्तु इस समय में कछुआ ख से दश गज़ आगे ग पर पहुंच चुका होगा। सहा एक मिंट में यह फ़ासला समाप्त कर लेगा, परन्तु इस मिंट में कछुआ एक गज़ और चल कर घ पर जा पहुंचेगा। सहे के लिये यह मार्ग समाप्त करना $\frac{१}{१०}$ मिंट का काम है, परन्तु इस $\frac{१}{१०}$ मिंट में कछुआ $\frac{१}{१०}$ गज़ आगे चला जावेगा। इसी प्रकार इनका आगामी फ़ासला $\frac{१}{१००}$ गज़ होगा, इस से अगला $\frac{१}{१०००}$ गज़; इत्यादि। अन्तर प्रत्येक पग पर न्यून होता जावेगा, परन्तु यह कभी शून्य नहीं होगा; अर्थात् सहे के लिये कछुए को पकड़ लेना असम्भव है।

(३)-हिरेक्लिटस का सिद्धान्त।

परिवर्तन जगत में राज्य कर रहा है।

पारमेनिडिज़ और ज़यनो की भान्ति हिरेक्लिटस (Heraclitus) का भी सिद्धान्त है, कि सृष्टि सदा से है और सदैव रहेगी; किन्तु जहां इनका ध्यान स्थिर रहने वाले सत्य की ओर था और परिवर्तन को केवल दिखलावा समझते थे, वहां हिरेक्लिटस ने इसे बड़ी प्रधानता दी है। इस की मति में परिवर्तन एक ऐसा नियम है जो सारे जगत् में राज्य कर रहा है। कोई वस्तु एक अवस्था में स्थिर नहीं रहती। यह परिवर्तन शान्ति से नहीं होता, किन्तु संग्राम के साथ होता है। वास्तविक तत्व जिसके परिवर्तन से सब वस्तुएं बनती हैं, अग्नि है। इस से जल बनता है, और जल से पृथिवी; पृथिवी और जल समय के व्यतीत होने पर फिर अग्नि में परिणत हो जाते हैं। पृथिवी की बनी हुई वस्तुएं बुझी हुई अग्नि हैं, वायु मण्डल और पानी ऐसी अग्नि हैं जो बुझ रही है व भड़क रही है। मृत्यु नये जीवन का नाम है। एक सृष्टि के नाश होने पर उसकी भस्म से दूसरी सृष्टि बनती है।

मृत्यु और जीवन, सुख और दुःख, भलाई और बुराई, सारे द्वन्द्व अपनी हस्ती के लिये एक दूसरे पर निर्भर हैं। इस मन्तव्य ने कि सुख का वजूद दुःख के बिना नहीं होसकता और भलाई बुराई के बिना नहीं होसकती, हिरेक्लिटस को दुःखवादी (Pessimist) बना दिया, और वह रोते हुए तार्किक के नाम से प्रसिद्ध है। हिरेक्लिटस प्रथम तार्किक है जो दूसरे सम्प्रदाओं का वर्णन करता है, और अपने तर्क को उन के सम्बन्ध में वृद्धि देता है। सुकरात से पूर्व यूनान के तर्क में हिरेक्लिटस की पदवी बहुत ऊंची है।

(४) परिवर्तन का समाधान।

तृतीय मन्तव्य सत्य पदार्थों और परिवर्तन दोनों की हस्ती को स्वीकार करता है। इस के अनुसार सृष्टि का उपादान कारण एक तत्व नहीं, प्रत्युत यह एक से अधिक तत्वों से बनी हुई है। यह तत्व सदा एक जैसे स्थिर रहते हैं, किन्तु एक दूसरे से उन के

सम्बन्ध परिणत होते रहते हैं। इन परिणत सम्बन्धों का ही परिणाम है कि हम संसार में इतना परिवर्तन देखते हैं।

इस सम्प्रदाय में सब से पूर्व नाम पाईथैगुरस (Pythagoras) का है। इस पुरुष ने अपने तर्क की नींव विज्ञान पर नहीं प्रत्युत गणित पर रक्खी। इस से पूर्व तार्किक किसी ऐसे प्राकृत तत्व के अनुसन्धान में थे, जो सृष्टि की बनावट का समाधान कर सके। पाईथैगुरस ने कहा, 'ऐसे तत्व प्राकृत नहीं, किन्तु संख्यायें हैं। यह साम्यता की सहायता से सृष्टि को उस की वर्तमान अवस्था में लाती हैं। राग का निर्भर तुल्यता (Proportion) पर है। सक्रिय तारागणों के मध्य में जो फ़ासले हैं वह भी स्वरों की संख्याओं की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये वह भी अपनी क्रिया में राग उत्पन्न करते हैं। हम इस राग को नहीं सुन सकते, या तो इसलिये कि हमारे कान इस राग की ऊंची स्वर को सुनने के योग्य नहीं, अथवा इसलिये कि सृष्टि में, जिस में हम रहते हैं, कभी चुपचाप नहीं होती जब कि हम आकाशी राग सुन सकें।

संख्याओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पित बातें इस सम्प्रदाय में प्रचलित थीं; जैसा कि, एकत्व बुद्धि है, क्योंकि इस में परिवर्तन नहीं; दो सम्मति है; तीन पूर्णता है, क्योंकि इसमें आदि मध्य और अन्त है; चार दो का वर्ग होने के कारण न्याय है; पांच विवाह है क्योंकि इसमें युग्म और अयुग्म का मिलाप है; दस पहली चार संख्याओं का योग है, इसलिये यह विशेष करके पवित्र है॥

पाईथैगुरस ने एकमठ स्थापित किया, जिस के मेम्बरों को आवागमन और आत्मा के नित्य होने की शिक्षा दी जाती थी; व्यायाम, गणित और राग में बोध प्राप्त करना आवश्यक था; मांस का भक्षण निषेध था; मेम्बरों के लिये आवश्यक था कि दूसरों पर दया दृष्टि रक्खें और एक दूसरे के साथ आदर्श प्रेम से रहें। विशेष २ नारीयें भी मठ में सम्मिलित की जाती थीं। प्रत्येक मेम्बर का धर्म्म था

कि मठ का गुरु जो आज्ञा दे उसे सिर माथे पर स्वीकार करें। *

एम्पीडॉक्लिज़ (Empedocles) ने कहा कि सब विवादों की जढ़ यह भाव है कि एक तत्त्व उपादान कारण है। कोई उसे वायु बताता है, कोई जल, कोई अग्नि। वास्तव में न अग्नि पानी में परिणत हो सकती है, न पानी वायु में, प्रत्येक वस्तु वही रहती है, जो वह है। उपादान कारण एक तत्व नहीं, प्रत्युत पृथिवी, जल, वायु, आकाश चार तत्त्व हैं। इन तत्त्वों में प्रेम और द्वेष दो नियमों के कारण क्रिया होती है। प्रेम के कारण यह एक दूसरे को आकर्षण करते हैं और द्वेष उन्हें भिन्न २ करता है। यह तत्त्व भिन्न २ परिमाणों में और भिन्न २ निवेश में मिलकर पृथिवी के भिन्न २ पदार्थ बनाते हैं॥

---

* पाइथैगुरस की शिक्षा और मठ की बनावट की बाबत पढ़ते हुए पाठक को स्वभावतः बुद्ध और बुद्धधर्म्म का चिन्तन आवेगा। बुद्ध और पाइथैगुरस दोनों दुःख वादी थे, दोनों आवागमन की शिक्षा देते थे। दोनों अपने मठों के मेम्बरों के लिये अत्यन्त संयमी जीवन व्यतीत करना आवश्यक ठहराते थे। आत्मसमीक्षा, विचार, दया, सत्यभाषण, न्याय दोनों की शिक्षाओं के प्रसिद्ध चिन्ह हैं। दोनों ने गुरु आज्ञापालन पर बड़ा जोर दिया है। आश्चर्य्य यह है कि इन दोनों के नामों में भी समानता है। बुद्ध के अर्थ ज्ञानी के हैं और पाइथैगुरस के अर्थ सत्यवादी के हैं। यदि बुद्धमत का अर्थ ज्ञान व सत्य समझा जावे, तो पाइथैगुरस का अर्थ बुद्धमत प्रचारक होता है। इस समानता के कारण कई पुरुष तो यहां तक भी कहते हैं कि यह दोनों एक ही पुरुष के नाम हैं। इस सिद्धान्त के विषय में कठिनता यह है कि वर्तमान अनुसन्धान के अनुसार जिस समय पाइथैगुरस शिक्षा देता था, बुद्धमत की शिक्षा पश्चिमी देशों में नहीं पहुंची थी। इस कठिनता से निकलने का एक मार्ग यह है कि जो शिक्षा पाइथैगुरस के सम्प्रदाय की है, इसका एक बड़ा अङ्ग पाइथैगुरस की अपनी शिक्षा नहीं, किन्तु इसके पीछे होने वाले शिष्यों की है; और जिस समय उन पुरुषों ने काम किया बुद्ध की शिक्षा पश्चिम में पहुंच चुकी थी॥

अन्त में प्रेम की जय होगी और भिन्न २ पदार्थ अपनी पृथक् हस्ती त्यागकर एक गड़बड़ (Chaos) में संलीन होजावेंगे। किन्तु यह सृष्टि की अन्तिम अवस्था नहीं होगी; फिर द्वेष का राज्य होगा और पृथक् २ पदार्थ प्रकट होंगे। इस प्रकार प्रेम और द्वेष का राज्य एक दूसरे के पश्चात् होता रहेगा।

मनुष्य के भिन्न जीवन के सम्बन्ध में एम्पीडॉक्लिज़ का विचार है कि यह कोई अच्छी वस्तु नहीं। जब हम दीर्घायु की इच्छा करते हैं तो एक प्रकार से सब पदार्थों से भिन्न रहने की चेष्टा करते हैं; यह इच्छा द्वेष के राज्य की इच्छा है। द्वेष प्रेम से निकृष्ट है और इसलिये पृथक् जीवन चेष्टा के योग्य नहीं। जैसा हम आगे पढ़ेंगे, पृथक् मनुष्य जीवन के मूल्य की बाबत यही मत नवीन तर्क में जर्मनी के तार्किक शोपनहॉअर (Schopenhauer) ने प्रकट किया है। एम्पीडॉक्लिज़ की बाबत यह बात इस से न्यून विचारणीय नहीं कि सृष्टि के भिन्न २ पदार्थों के वर्तमान दशा में आने की बाबत उसका मत डार्विन के मत से मिलता है। उसकी सम्मति में आरम्भ में आंख, नाक, मेहदा, भुजा इत्यादि पृथक् २ उत्पन्न हुए। पीछे यह विचित्र नियमों से आपस में मिले; कहीं मनुष्य का सिर बैल के धड़ के साथ मिला; कहीं मेहदा और आंखें मिल गईं; कहीं भुजा और नाक। इस प्रकार की परीक्षाओं के पश्चात् प्रकृति ने ऐसे अङ्गों को मिलाया, जिनके मिलाप से जीवधारी उत्पन्न हुए। चूंकि यह हालात के अधिक अनुकूल थे, यह बच रहे; शेषों में यह गुण न था, उनका जीवन स्थिर नहीं रहा।

परमात्मा के सम्बन्ध में एम्पीडॉक्लिज़ का विचार क्या था? इस प्रश्न का ठीक उत्तर देना कठिन है। कहीं वह एक परमात्मा का वर्णन करता है, जो सारे विश्व में व्यापक है; कहीं देवताओं का वर्णन करता है, जो मनुष्यों की भान्ति चार तत्वों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं, केवल उनका जीवन मनुष्यों से दीर्घ होता है; कहीं चार तत्वों और प्रेम और द्वेष के नियमों को ही देवता के नाम से स्मरण करता है।

एनैक्सेगुरस (Anaxagoras) इन तत्त्वों की गणना में जो सृष्टि का उपादान कारण हैं, एम्पीडॉक्लिज़ से भी एक पद आगे बढ़ा, और कहा कि यह चार तत्त्व भी इस प्रयोजन के लिये अपर्य्याप्त हैं ; यह आप मिश्रित हैं। वास्तव में सृष्टि का उपादान कारण अनेक प्रकार के बीज हैं ; परन्तु इन बीजों में यह शक्ति नहीं कि वह अपने आप सृष्टि को बना सकें। वह अपने आप सक्रिय नहीं हो सकते। विशेषतया जब हम उस सुन्दर सृष्टि को देखते हैं, जो इन क्रियाओं से उत्पन्न हुई है, तो हमें मानना पड़ता है कि इन के उपादान कारणों के अतिरिक्त एक निमित्त कारण भी है। यह चैतन्य शक्ति उन बीजों से सृष्टि को उत्पन्न करती है।

निमित्त कारण की आवश्यकता पर सब से प्रथम एनैक्सेगुरस ने ज़ोर दिया ; इस कारण से अरस्तु जब उसके विषय में वर्णन करता है, तो कहता है कि यही एक अन्धों में देखने वाला और मदिरा पान करने वालों में असुराप था।

परमाणु वादियों ने जिन में डीमॉक्रिटस (Democritus) का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है, एनैक्सेगुरस की चैतन्य शक्ति की हस्ती से इनकार किया। वह केवल परमाणुओं में विश्वास रखते थे : उनके मतानुसार परमाणु एक दूसरे से परिमाण और आकार, देश और नियम में भिन्न २ हैं, परन्तु उनमें जाति भेद नहीं है। परमाणुओं की हस्ती के अतिरिक्त डीमॉक्रिटस आकाश की हस्ती में विश्वास करता है, और कहता है कि इस आकाश के होने से ही परमाणु क्रिया कर सकते हैं। आरम्भ में सब परमाणु अपने भार के कारण नीचे की ओर क्रिया करते थे : इनमें से कई एक दूसरे पर पड़े और इस प्रकार भान्ति २ की टेढ़ी और विरोधी क्रियाएं उत्पन्न होगईं और इनसे सारी प्रकृति घूमने लगी। जो परमाणु एक दूसरे से अनुकूल थे, वह आपस में मिले और बद्ध होगये। इस प्रकार भिन्न २ वस्तुओं की उत्पत्ति हुई।

आत्मा भी एक प्राकृत वस्तु है और छोटे २, गोल, चिकने अग्नि के परमाणुओं से बना है। अति सूक्ष्म होने के कारण यह परमाणु सारे शरीर में बिखरे हुए हैं। जीवन के प्रत्येक

क्षण में यह शरीर से निकल रहे हैं, और उनके स्थान में और परमाणु श्वास के द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। मृत्यु के पश्चात् जब श्वास लेना बन्द होजाता है, नये आत्मिक अणु तो अन्दर जाते नहीं, हां अन्दर के अणु बाहिर आकर वायु में बिखर जाते हैं। डीमॉक्रटस के मत में वायु मण्डल में आत्मा और बुद्धि का एक बड़ा परिमाण विद्यमान है, और इसी भंडार से प्रत्येक कुछ न कुछ ग्रहण कर रहा है।

बाह्य पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में डीमॉक्रटस का मत है कि पदार्थों के अति सूक्ष्म पिञ्जर इनसे पृथक होकर हमारे रोम कूपों द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं, और हमारे आत्मा पर प्रभाव डालते हैं। मेरे शरीर से परमाणु उड़ रहे हैं और इसी रचना से जुड़े हुए, खोखली प्रतिमाओं की भान्ति, उन सब मनुष्यों के शरीरों में प्रवेश कर रहे हैं जो मुझे देखते हैं।

पुराणे ऐतिहासिक हिरेक्लिटस की अपेक्षा डीमॉक्रटस को हंसता तार्किक कहते हैं। उसके लेख अपने विस्तार की अपेक्षा से उसे अरस्तु के लग भग लेजाते हैं, और लेख के सौन्दर्य में वह अफलातूं से बहुत नीचे नहीं।

नमूने के तौर पर उसके सूत्रों में से थोड़े से उद्धृत किये जाते हैं :—

मनुष्य को बड़े से बड़ा आनन्द भले कामों के चिन्तन से होता है।

बुद्धिमान मनुष्य जो कुछ उसके पास है उसके लिये ख़ुश होता है, बजाये इसके कि जो कुछ उसके पास नहीं उसके लिये रोता रहे।

वह पुरुष जो जीवन में छुट्टी नहीं मनाता, एक लम्बी सड़क पर यात्रा कर रहा है, जिस पर कोई सराय नहीं।

जितना तुम पड़ोसी का मान करते हो उतना ही अपना करो, और स्मरण रक्खो कि तुम किसी के साथ अन्याय नहीं करते, चाहे कोई उसे जानता हो व न जानता हो।

परमात्मा केवल उनसे प्यार करता है जो अन्याय से घृणा करते हैं।

मूर्ख एक ही अध्यापक से सीखते हैं और वह विपत्ति है।
वह पुरुष जिससे सारे डरते हैं सबसे डरता है।

(५) अति तार्किक

डीमोक्रिटस और दूसरे परमाणुवादियों के साथ यूनानी तर्क के युक्ति निरपेक्षावाद (Dogmatism) का समय समाप्त होता है। इन लोगों और सुकरात के मध्य में एक श्रेणी प्रकट हुई जिसने तर्क को प्रधान बनाया, और इसलिये अति तर्कवादी कहलाये।

इस श्रेणी के उत्पन्न होने के दो बड़े कारण थे। एक, भिन्न २ सम्प्रदायों के मत भेद के कारण सर्व साधारण को ज्ञात नहीं होसक्ता था कि सत्य वास्तव में क्या है। एक कहता था, 'सृष्टि उत्पत्ति के लिये प्रकृति और चैतन्य शक्ति की आवश्यकता है' दूसरा चैतन्य शक्ति की हस्ती को स्वीकार नहीं करता था। एक प्रकृति को एक रूप में मानता था, तो दूसरा बहुत रूपों में; एक जल को आदि उपादान कारण कहता था, दूसरा वायु आदि को। दूसरा, राज्य में राजनैतिक बल सर्व साधारण में विस्तृत होगया था। इसलिये प्रत्येक पुरुष के लिये जो ऐसा बल चाहता था आवश्यक था कि सर्व साधारण पर अपनी वक्तृता और तर्कों से प्रभाव डाल सके।

इन दोनों कारणों ने ऐसी श्रेणी को उत्पन्न किया कि जिनका मुख्य कार्य्य तर्क करना था। उन पुरुषों ने आदि में उच्च शिक्षा देना अपना प्रधान कर्तव्य बनाया; नगर २ में यह भ्रमण करते थे और रुपये के प्रतिकार में युवकों को सिखलाते थे। इनका अभिप्राय किसी विशेष सिद्धान्त का प्रचार करना नहीं था, केवल सिद्धान्तों पर तर्क करना था। यदि सीखने वाला पक्ष सिद्ध करना चाहता था, तो यह उसका विपक्ष लेलेते थे। यदि शिष्य विपक्ष की सिद्धि चाहता था तो यह पक्ष के अनुकूल युक्ति देते थे। इसके अतिरिक्त यह लोग वक्तृता की रीति के विषय में शिक्षा देते थे।

जैसा ऊपर कहा गया है, सत्य के सम्बन्ध में मत भेद सर्व साधारण को संशय में डाले हुए था। अतितार्किकों ने कहा कि यह विवाद इस मिथ्या सिद्धान्त के कारण से है कि सत्य सर्व-

गत हस्ती रखता है। बात यह है कि प्रत्येक के लिये जो कुछ उसे सत्य प्रतीत होता है, वही सत्य है। सत्य केवल आत्मगत हस्ती रखता है। भिन्न २ पुरुषों के ज्ञानेन्द्रिय एक ही पदार्थ का भिन्न २ ज्ञान देते हैं। यदि सत्य कुछ सर्वगत होता तो उसके जानने की कोई सम्भावना नहीं थी। एक दृष्टि से यह कल्पना एक मेल कराने वाली कल्पना थी, क्योंकि भिन्न २ मतों वाले पुरुषों को यह विश्वास दिलाया गया कि जो कुछ वह कहते हैं, वह सत्य है; परञ्च दूसरी दृष्टि से प्रत्येक की प्रतिज्ञा को झूठा भी बताया गया, क्योंकि सारे मतों वाले अपनी प्रतिज्ञा को सत्य और विरोधी प्रतिज्ञाओं को भूल कहते थे।

प्रोटैगुरस (Protagoras) और गारगिय्यस (Gorgias) का नाम इस श्रेणि में प्रसिद्ध है। प्रोटैगुरस का कथन है कि मनुष्य सारी बातों का परीक्षक है, जो कुछ उसे सत्य ज्ञान होता है वही सत्य है। यही नियम आचार के सम्बन्ध में भी ठीक है, मेरे लिये कर्तव्य वह है जो मुझे भाता है। सत्य के सदृश धर्म भी आत्मगत प्रत्येक हस्ती रखता है। गारगिय्यस कहता है कि सत्य सर्वगत हस्ती नहीं रखता; यदि कल्पना भी करलें कि उसकी ऐसी हस्ती है, तो हम उसे जान नहीं सकें; यदि हम उसे जान सकें तो औरों को उसका ज्ञान नहीं दे सकते।

अतितार्किकों ने लोगों के आत्माओं को अस्थिर कर दिया। किन्तु उन्होंने तर्क की एक सेवा भी की और वह यह थी कि उन्होंने तर्क को प्रधान स्थान दिया। उनकी भूल यह थी कि उन्होंने मानुषी बुद्धियों के भेद को अत्युक्ति की दृष्टि से देखा। मानुषी मतियों में भेद होता है, परन्तु भेद एक दूसरे को शोध देते हैं, और यदि हम किसी सिद्धान्त पर बहुत से समझने वाले मनुष्यों की सम्मतियों को देखें तो अति पृथक् होकर सत्य हमारे सन्मुख आजाता है। अति तार्किकों ने मनुष्यों के नीचे मनुष्य को नहीं देखा, और इस भूल के कारण सत्य और सदाचार की सर्वगत हस्ती से इनकार किया। यह भूल थी जिसे शोध कर सुकरात ने यूनानी तर्क को नवीन जन्म दिया।

द्वितीय अध्याय

सुकरात और उसके शिष्य

(१) सुकरात का जीवन

यदि पश्चिमी तर्क के इतिहास में तार्किकों की शिक्षा के अतिरिक्त एक पुरुष के जीवन और व्यक्तित्व के विषय में कहने की आज्ञा हो, तो इतिहास लेखक निस्सन्देह सुकरात के विषय में कहेगा। सुकरात की शिक्षा और उसके जीवन में गाढ़ सम्बन्ध है। उसका जीवन अति सरस है और जो पुरुष सुकरात के सत्संग में रहे, उनके लिये उसकी शिक्षा की अपेक्षा उसका जीवन अधिक आकर्षण करने वाला था।

सुकरात (४६९—३९९,पू० खृ) ने एंटीका ग्राम में जन्म लिया। उसका पिता मूर्तियें बनाया करता था, और उसकी माता दाई का कार्य्य करती थी। पिता ने पुत्र को स्वकार्य्य में लगाया, परन्तु सुकरात की प्रकृति ने इस कार्य्य को पसन्द न किया। जो कुछ वह इस छोटे से ग्राम में सीख सकता था, उसने सीखा, और अपने समय का अधिक भाग ज्ञान ध्यान में बिताने लगा।

महा पुरुष एक सीमा तक अपने देश तथा काल की सन्तान होते हैं, परन्तु देश और काल से ऊपर भी उड़ते हैं। सुकरात के जीवन में यूनानियों के कई चिन्ह प्रधान थे। उसका जीवन तपस्वी था, परन्तु सुखों से उदासीन रहना न तो उसकी शिक्षा में था, न उसके जीवन का अनुष्ठान ही था। सुन्दर वस्तुओं से प्रेम करने में वह एक सच्चा यूनानी था। यूनानी जीवन का एक और चिन्ह स्वदेश तथा स्वजाति के नियम का अनुकरण करना था। सुकरात ने आयु पर्य्यन्त कदापि स्वजातीय तथा स्वदेशीय

नियम का उलंघन नहीं किया, और उसी नियम के आगे शिर निवा कर मृत्यु को स्वीकार किया। परन्तु जहां सुकरात में यूनानी जीवन के यह चिन्ह विद्यमान थे, वहां कई बातों में वह अन्य यूनानियों से सर्वथा भिन्न था। यूनानी विशेषतया रस प्रिय थे, और अपने शरीर और वस्तुओं की अनुरूपता का ध्यान रखना अति आवश्यक समझते थे : सुकरात इन बातों की ओर से उदासीन था। उसके वस्त्र अत्यन्त साधारण होते थे, वह नंगे पाओं फिरने में लज्जा अनुभव न करता था, रूखी सूखी रोटी खाकर सादा जीवन व्यतीत करना उसके लिये पर्य्याप्त था, मानसिक जीवन में भी केवल बुद्धि की ओर उसका ध्यान था। उसके अपने जीवन में रसिकता का सर्वथा अभाव था।

सुकरात के एक मित्र ने मन्दिर में जाकर पूछा, "हम में सब से अधिक बुद्धिमान् कौन है ?" आकाश वाणी ने उत्तर दिया, "सुकरात"। सुकरात इस बात को सुनकर अति विस्मित हुआ, क्योंकि वह समझता था कि वह कुछ नहीं जानता। सुकरात अपने समय के विद्वानों के पास गया और उनके विषयों तथा जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न पूछे। विदित हुआ कि उन्हें कुछ ज्ञान नहीं, परन्तु वह इस बात से झिझकते हैं कि उन्हें वा अन्यों को उनके अज्ञान का पता लगे। सुकरात ने कहा:—"मैं कुछ नहीं जानता, यह लोग भी कुछ नहीं जानते; परन्तु जहां मुझे अपने अज्ञान का ज्ञान है, वहां इन लोगों को इसका ज्ञान भी नहीं। प्रतीत होता है कि इस भेद के कारण आकाश वाणी ने मुझे सब से बुद्धिमान् कहा है"।

सुकरात ने अपने और दूसरों के ज्ञान को बढ़ाना अपने जीवन का काम बनाया। सुकरात के पूर्वज तार्किक अपने विचारों के फल विशेष २ शिष्यों को बता देना पर्य्याप्त जानते थे; इसके विरुद्ध सुकरात का विद्या दान सबके लिये था। अति तार्किक बड़ी२ फ़ीस देने वाले धनाढ्यों को ही पढ़ाते थे, इसके विरुद्ध सुकरात ने आयु भर किसी से शिक्षा के लिये फ़ीस नहीं ली। अति तार्किकों की

नाई उसकी शिक्षा व्याख्यान रूप में नहीं होती थी; वह संवाद करता था, और कहता था, "मैं दूसरों को सिखलाता कुछ नहीं, क्योंकि मैं कुछ नहीं जानता; मैं तो दूसरों के साथ सीखता हूं। मेरा काम मेरी माता का काम है, मैं बालक से बातें करवाता हूं, उसे सिखलाता नहीं"। कभी२ वह अपने आपको मक्खी से उपमा देता था, और कहता था, "मैं मनुष्यों को काटता हूं, जिससे वह सावधान हों और देखें कि वह किस अवस्था में हैं"।

उसका जीवन संयमी जीवन था:उसमें कष्ट सहन करने की योग्यता थी; उसका सारा जीवन दूसरों की शिक्षा और सेवा में व्यतीत हुआ। इस प्रकारके काम और जीवन के लिये उसके देशवासियों ने निश्चय किया कि उसे विष का प्याला पिला कर उसका अन्त किया जाय। उसने अपनी जाति की आज्ञा के आगे शिर निवाया, परन्तु उसकी मृत्यु के विषय में कहने से पहिले आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उसके तर्क पर साधारण दृष्टि डाल लें।

(२) सुकरात का तर्क

कई पुरुषों का विचार है कि सुकरात साधारण धर्मोपदेशक और प्रचारक था, वह तार्किक नहीं था, और न कभी उसने तर्क की शिक्षा दी। हम देख चुके हैं, कि सुकरात का कार्य्य लोगों की आत्माओं को जगाना और उन्हें सोच विचार के योग्य बनाना था; तर्क का विशेष सम्प्रदाय बनाना न था। तथापि उस की समग्र शिक्षा तर्क की नींव पर थी। यदि हम स्वीकार भी करलें कि उसने मनुष्य जाति को तर्क का कोई नूतन सम्प्रदाय नहीं दिया, तो भी यह मानना पड़ेगा, कि उसकी सारी शिक्षा की नींव में तार्किक भाव विद्यमान् था। इसके अतिरिक्त तर्क जिन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है, उन प्रश्नों को सुकरात ने लोगों के सामने रक्खा, और यदि उत्तर नहीं दिये तो न्यूनसे न्यून बता दिया कि किस दिशा में चलने से उत्तर मिलने की सम्भावना है। अति तार्किक सत्य तथा धर्म दोनों के सर्वगत अस्तित्व से इनकार करते थे, और कहते थे कि यह दोनों भिन्न २ मनुष्यों के लिये भिन्न २ हैं। मेरे

लिये सत्य का प्रमाण मेरी ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है ? मेरे लिये धर्म का प्रमाण मेरा अपना सुख है। इन दोनों भूलों का संशोधन करके सुकरात ने तर्क को नूतन जन्म दिया। हेगल की सम्मति है कि सुकरात स्वयं अति तार्किक था, और यह भी सम्भव है कि सुकरात के विरोधियों ने उसे अति तार्किक जान कर मृत्यु का दण्ड दिया हो। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि जो बात अति तार्किकों को एक श्रेणी बनाती थी,वह सिद्धान्तों की एकता न थी, किन्तु पेशे का एक होना था। कई अति तार्किक सिद्धान्तों की दृष्टि से सुकरात के अनुयायी थे, तथापि अति तार्किकों और सुकरात में एक प्रसिद्ध भेद था :—जहां दोनों वर्तमान् अज्ञान को स्वीकार करते थे, वहां सुकरात ज्ञान की सम्भावना पर ज़ोर देता था। अति तार्किक कहते थे, "हम कुछ नहीं जानते और हम कुछ नहीं जान सकते"; सुकरात कहता था, "हम कुछ नहीं जानते परन्तु जान सकते हैं, अतः जानने का यत्न करना चाहिये"। अति तार्किक ज्ञानके अस्तित्व से इनकारी थे, दूसरी ओर ऐसा ज्ञान सुकरात के तर्क का केन्द्र था। इसी प्रकार का भेद आचार शास्त्र के विषय में भी था। अति तार्किक आत्मा के वर्तमान् सुख से बढ़ कर धर्म का कोई प्रमाण स्थापित नहीं करते थे;सुकरात ने सर्वगत धर्म के अस्तित्व पर ज़ोर दिया। अति तार्किक कहते थे कि भिन्न२ मनुष्यों की ज्ञानेन्द्रियां एक ही पदार्थ के विषय में भिन्न२ और कभी२ विरोधी ज्ञान देती हैं ; सुकरात ने इस प्रतिज्ञा को स्वीकार किया,परन्तु कहा कि इन्द्रिय ज्ञान में सत्य ज्ञानको ढूंडना इसे गलत स्थानमें ढूंडना है ; वास्तवमें सत्य ज्ञान पदार्थों के तत्वके विषय में विचार करने से मिलता है। यथा, हम देखना चाहते हैं कि न्याय क्या है ? इसके लिये इतना जान लेना पर्य्याप्त नहीं कि हमारा लाभ किस बात में है, परन्तु आवश्यक है कि हम इसके भिन्न २ अङ्गों पर दृष्टि डालें ; उन भिन्न २ विचारों को जो बुद्धिमान् लोग उसके विषयमें रखते हैं, तुलना करें और उनमें से परस्पर विरोधको पृथक् करदें, शेष यथार्थ सत्य रह जायगा। पदार्थको भिन्न २ पहलुओं से देखो, उसका लक्षण ढूंडो, सत्य ज्ञान की प्राप्ति होगी; यह मार्ग सुकरात के तर्क का विशेष चिन्ह है,

और जैसा अरस्तु कहता है पश्चिमी तर्क में सुकरात, व्याप्ति-आगमन (Induction) और लक्षण (Definition) का प्रथम गुरू है।

सुकरात से पूर्व यूनानी तर्क प्रकृति का तर्क था। सुकरात ने उसे एक नये मार्ग पर डाल दिया और तत्पश्चात् यूनानी तर्क विशेष रूप से आत्मिक तर्क बन गया। प्रकृति को सर्वदा छोड़ नहीं दिया गया, परन्तु प्रधानत्व आत्मा को दिया गया। सुकरात से पूर्व यूनान के चक्षु बाह्य की ओर लगे हुए थे, सुकरात ने कहा, "अन्दर की ओर देखो"। इस से पूर्व ज्ञान इन्द्रियों पर निर्भर था; सुकरात ने कहा, "सत्य ज्ञान के लिये विचार की आवश्यकता है"। इस प्रकार सुकरात ने तर्क में अपने पूर्वजों से पृथक भाव स्वीकार किया, और नूतन मार्ग का सञ्चार किया।

सुकरात विश्वास करता था, कि उसके अन्दर एक देव वाक्य उसको प्रेरणा करता है। यह देव वाक्य प्राया निषेद्ध मुख होता था, और उसकी आज्ञायें आचार के सम्बन्ध में ही नहीं होती थीं, किन्तु सकल कठिन दशाओं में सुकरात को उस से सहायता मिलती थी। सुकरात के समय में लोग मन्दिरों में आकाश वाणी सुनने जाते थे। जहां अन्य बाह्य से आकाश वाणी सुनते थे, वहां सुकरात अन्दर से सुनता था *। जिस प्रकार तर्क में उस ने बाहर की ओर से अन्दर की ओर नेत्र फेर, तद्वत आचार सम्बन्धी शिक्षा के लिये बाहर के शब्दों की अपेक्षा अन्तरीय वाणी को अधिक गौरव से देखा। कई बार वह स्वविचारों में मग्न हुआ २ घण्टों व्यतीत करता था। कहा गयी है कि एक बार तो सारा दिन

---

* यह देव वाक्य क्या था? साधारण अर्थों में आत्म वाणी (ज़मीर) नहीं थी, क्योंकि ज़मीर की आज्ञाओं के सम्बन्ध में वह बाह्यता नहीं होती, जो सुकरात इस वाणी के सम्बन्ध में अनुभव करता था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऐसी दशाओं में सुकरात भ्रान्ति का आखेट होता था, क्योंकि इस प्रकार की दुर्बलता का अन्य कोई उदाहरण उसके जीवन में नहीं मिलता; इसके अतिरिक्त देववाक्य प्राया ठीक मार्ग दर्शाता था। बात यह है कभी २ हमारे आत्मा में अनिश्चित भाव उत्पन्न होते हैं, जो

वह विचार में एक स्थान पर खड़ा रहा । सुकरात के तर्क तथा जीवन का एक मूल पाठ था और वह यह था—

बाहर के पट बंद कर, अंदर के पट खोल।

आचार विषय में सुकरात कहता है कि एक काम का करना ही पर्य्याप्त नहीं, परन्तु आवश्यक है कि हम इसे शोच विचार कर करें, और जानें, कि क्यों वह काम नेक है। आचार की नींव ज्ञान पर होनी चाहिये। सुकरात के मत में आचार तथा ज्ञान का इतना गहरा संबंध है कि नेकी और ज्ञान एक ही वस्तु हैं। कोई पुरुष सच्चे अर्थों में नेक काम नहीं कर सकता जबतक उसे उस के तत्व का ज्ञान न हो, और उसके विपरीत कोई मनुष्य ज्ञान रखता हुआ बुरा काम नहीं कर सकता। मद्यप मद्यपान काल में भूल जाता है कि मद्यपान बुरा कार्य्य है।

सदाचारी जीवन में सबसे बड़ा धर्म यह है कि मनुष्य अपने आपको जाने। सुकरात सदा अपने शिष्यों को कहता था, "अपने आप को जानो"। उसका जीवन तपस्या का जीवन था; तपस्या विषय पर वह सर्वदा उपदेश करता था। सच्ची तपस्या इन्द्रिय संयम और दम है। यह जभी संभव है कि जब मनुष्य को अपने चारित्र के दुर्बल अंश का ज्ञान हो। हमारे अंदर देवासुर संग्राम होरहा है; असुर प्रत्येक की अवस्था में विशेष दुर्बल अंश को ढूंडते हैं, और उस पर प्रहार करते हैं। एक पुरुष की अवस्था में यह अंश काम, दूसरे की अवस्था में क्रोध, और तीसरे की अवस्था में कोई और विषय होता है। जो मनुष्य अपने आप को नहीं जानता, वह अपने दुर्बल अंश को नहीं जानता, और इन्द्रियों को वश में रखने के अयोग्य है।

हमें कामों के अच्छा या बुरा होने के विषय में बताते हैं; हम अनुभव करते हैं कि एक काम अच्छा है, परन्तु यह भी देखते हैं कि हम ने तर्क से उसे अच्छा सिद्ध नहीं किया। यह मानसिक अवस्थायें आरम्भिक अवस्था में होती हैं। और मानसिक जीवन का ऐसा भाग हैं कि जिसे विशेष नाम नहीं दिया जा सकता। सुकरात के समय में मनोविज्ञान बाल्यावस्था में था; अतः उसने इन अवस्थाओं को न समझकर अपने से पृथक् स्वतन्त्र आत्मा की वाणी समझा॥

ऊपर कहा गया है कि सुकरात अन्य यूनानियों की भांति सुंदर वस्तुओं को प्रेम करता था; आनंद भोग के भी वह विरुद्ध न था। भोग शक्ति को नितान्त नाश करना नहीं, किन्तु व्यसनों को वश में रखना उसका आचारादर्श था। जहां एक ओर यह धारणा की जाती है कि सुकरात सुखी जीवन को धिक्कारता है, वहां दूसरी ओर कुछ लोग समझते हैं कि उसकी शिक्षा के अनुसार सुख प्राप्ति ही जीवन का आदर्श है। कई लेखकों ने इस गांठ को इस प्रकार सुलझाने का यत्न किया है कि बुद्धिमानों के लिये सुकरात की शिक्षा जीवन को धर्म परायण करने की है, परन्तु सर्व साधारण के लिये उसने भोगों की आज्ञा देदी है। बात यह है कि सुकरात अन्य यूनानियों की भान्ति सौन्दर्य्य का प्रेमी था, और संयम से भोग भोगने को पाप नहीं समझता था। उसका विचार था कि यदि मनुष्य विषयों पर शासन करता हुआ आनन्द प्राप्त कर सकता है, तो इसमें दोष नहीं। वह स्वयं कभी २ सह भोजों में सम्मिलित होता था; परन्तु जब लोग प्रातःकाल मदमत्त पड़े होते थे, सुकरात अपने कार्य्य में लगा होता था। उसका अपना जीवन कमल पुष्प के सदृश था, जो जल में रहता है पर जल उसमें रच नहीं जाता। यही उसकी आचार सम्बन्धी शिक्षा थी।

उसकी सम्मति में आदर्श जीवन में आत्मा बाह्यदशाओं से सर्वथा स्वतंत्र होता है। मनुष्य परवश हो वा आत्मवश, दरिद्र हो व धनवान्, स्वतन्त्रता उसके हाथ में है। एक पुरुष जिसे संसार परवश समझता है, राजकीय आत्मा रख सकता है॥

(३) सुकरात की मृत्यु

ऐसी शिक्षा को यूनान वासियों ने भय जनक जाना, और उस पुरुष को जो सारे देश की शोभा था, देश का शत्रु समझा गया। मिलिटस नाम एक पुरुष ने राज्य-परिषद् में शिकायत की:—

"मैं, मिलिटस, सुकरात पर अपराध लगाता हूं कि वह राज्य नियमों को तोड़ता है; उन देवताओं के स्थान में जिनको

राज्य मानता है, अपनी पूजा के लिये उसने नये२ देवता बना लिये हैं। वह युवकों को बिगाड़ता है और इस प्रकार भी राज्य नियमों को तोड़ता है। सुकरात युवकों को सिखाता है कि उसकी शिक्षा से वह अपने माता पिता से भी अधिक बुद्धिमान् होजाते हैं; अतः युवक माता पिता से घृणा करने लग गये हैं। यह बताने के लिये कि बुद्धिमानों के अधिकार में मूर्खों को रहना चाहिये, उसने एकबार यह भी कहा था कि यदि किसी पुरुष का पिता उन्मत्त होजाय, तो उसे मकान में बंद कर देना चाहिये। इस समय राज्याधिकारी सम्मतियों से चुने जाते हैं। सुकरात कहता है कि यह रीति अति अनुचित है। यदि मांझी और बंशी बजाने वाले की आवश्यक्ता हो तो कोई पुरुष सम्मति नहीं लेता, परञ्च जो पुरुष उन कार्य्यों के योग्य हो, उसे नियत किया जाता है। यदि ऐसे प्रोचन में भूल भी होजाय तो बहुत हानी नहीं होती; परन्तु जहां मनुष्यों के शासकों के लिये राय ली जाय, वहां निस्संदेह मूर्खता का राज्य है। सुकरात की ऐसी शिक्षा से युवकों के मनों में इच्छा उत्पन्न होती है कि वह देश के शासन-नियमों को घृणा की दृष्टि से देखें, और नियमों का उलंघन करें"।

मुकद्दमे के सुनने के लिये तिथि नियत होगई। सुकरात तनिक नहीं घबराया, और स्वकार्य्य में लगा रहा। मुकद्दमा पेश हुआ तो राज परिषद् के मेम्बरों ने सम्मति-बहुलयता से उसे अपराधी निश्चित किया। इस समय प्रथा थी कि ऐसे अपराधियों से कुछ दण्ड लेकर क्षमा करदिया जाता था। सुकरात से कहा गया कि वह भी इस प्रथा से लाभ उठाए, और दण्ड देकर क्षमा प्राप्त करे। सुकरात ने कहा, 'दण्ड देने का अर्थ यह होगा कि मैं भी अपने आपको अपराधी समझता हूं, मैं यह स्वीकार करने को उद्यत नहीं'। सुकरात को मृत्यु का दण्ड दिया गया। उस समय उसने निम्नलिखित वक्तता दी:—

"ऐथन्ज़ वासियो, थोड़े काल की बात थी, वृथा तुमने स्वनगर के शत्रुओं को कलंक लगाने का अवसर दिया है कि तुमने सुकरात को मारदिया। यदि तुम थोड़ा समय प्रतीक्षा करते तो मैं यूंहि मृत्यु का

आखंट होजाता। मेरी मृत्यु के लिये सम्मति देने वालो, तुम समझते हो कि अल्पयोग्यता के कारण मैं तुम्हारे मनों को पराजित नहीं कर सका, और अतः मरता हूं। नहीं२, तुम भूलते हो, मुझ में यह शक्ती थी कि तुम्हारे मनों पर प्रभाव डालता, परन्तु इसके लिये मुझे वह बातें कहनी पड़तीं जो कहने के योग्य नहीं। और लोग तुम्हें प्रसन्न करने के लिये सब कुछ कह लेते हैं तथा कर लेते हैं; परन्तु मैं वही कह और कर सकता हूं, जो एक स्वतन्त्र पुरुष कर सकता है, और जो मेरा कर्तव्य है। जिस प्रकार मैंने अपने पक्ष को सिद्ध किया है, उसका मुझे अब भी कोई शोक नहीं "।

" मेरे देश वासियो, न कचहरी में, और न युद्ध क्षेत्र में, हमारी यह वृत्ति होनी चाहिये कि कुछ हो हो हमारी देह रक्षा हो जाये। युद्ध में कई ऐसे अवसर आते हैं, जब मनुष्य शस्त्र गिरादे और अपने शत्रु से क्षमा मांगे तो उसकी जान बच सकती है; परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। शेष भयावसरों पर भी यदि मनुष्य सब कुछ करने पर उद्यत हो जाय, तो वह बच सकता है। ऐथन्ज़ वासियो, मृत्यु से बचना कठिन नहीं, कठिन यह है कि मनुष्य पाप से बच रहे। पाप मृत्यु से भी शीघ्रगामी है। मैं अब वृद्ध हूं और शनैः२ चल सकता हूं, मृत्यु ने जो तेज़ चलती है मुझे आपकड़ा है। मेरे ऊपर अपराध लगाने वालों को जो अब शक्तिमान् और जल्दी चलने वाले हैं, पाप ने आघेरा है। हम सब यहां से जाते हैं; मुझ पर तुमने मृत्यु का दण्ड लगाया है, और उन पर सत्य ने पाप तथा अन्याय का अपराध लगाया है। मैं अपने भाग्य को शिर और आंखों पर ग्रहण करता हूं और वह अपने को। मुझे मृत्यु का दण्ड देने वालो, मैं अब एक भविष्यत वाणी करना चाहता हूं; जो दण्ड तुमने मुझ को दिया है, उससे बड़ा दण्ड तुम को मेरी मृत्यु के पश्चात् मिलेगा। तुम समझते हो कि मुझे मार कर तुम सुख से जीवन व्यतीत करोगे और कोई पुरुष तुम से तुम्हारे जीवन के विषय में प्रश्न नहीं करेगा। परन्तु मैं कहता हूं कि बहुत सारे जिन को तुमने देखा नहीं, और जिनको मैंने रोक रक्खा है, तुम से उत्तर मांगेंगे। उन में जवानी का लहु होगा, वह तुम्हें अधिक क्लेश

देंगे। बहुत से पुरुष तुम्हारे अपवित्र जीवनों पर प्रश्न करते हैं; यदि तुम विचारते हो कि इन लोगों को मारकर तुम उनकी जिह्वा बंद कर सकते हो तो यह तुम्हारी भूल है। इस प्रकार न तुम स्वरक्षा कर सकते हो, न ही यह सभ्य रीति है। सुगम तथा सभ्यरीति यह है कि लोगों के गले काटने के स्थान में तुम स्वजीवनों का सुधार करो"।

"एक और निवेदन मुझे तुम से करना है। यदि युवा होकर मेरे पुत्र सदाचार का आचरण न करते हुए धन वा किसी अन्य पदार्थ की लालसा करें, तो उन्हें दुःख दो जिस प्रकार मैंने तुम्हें दुःख दिया है। यदि वह वास्तव में निकृष्ट हों और इस पर भी घमण्ड करें, तो उनको लज्जा दिलाओ, जिस प्रकार मैं तुम्हारे विषय में करता रहा हूं। यदि तुम यह करोगे, तो हमारी ओर जो तुम्हारा कर्तव्य है वह पूर्ण हो जावेगा। अब समय है कि हम यहां से चलदें, मैं मरने के लिये और तुम जीवित रहने के लिये; परन्तु यह परमात्मा ही जानता है कि हम में से किसका दैव उत्तम है"।

(४) क्या सुकरात पर मृत्यु दण्ड अनुचित था ?

यदि हम इस वृतान्त को यहीं छोड़ दें, तो उन लोगों के साथ जिन्होंने सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया, अन्याय होगा। सहस्रों पुरुषों ने इस वृतान्त को पढ़कर आंसु बहाये हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मृत्यु दण्ड दाताओं के मन मलीन थे, और उन्होंने व्यक्तिगत द्वेष से एक देवता को मार दिया? या अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उनके विचार में त्रुटि थी और वह अन्यथा बुद्धि का आखेट हुए? सम्भव है कि मिलिटस ने अपराध स्वद्वेष से लगाया हो; परन्तु इससे यह प्रमाण नहीं निकलता कि सारी राज सभा ने भी इसी भाव से प्रभावित होकर उसे दण्ड दिया। प्रश्न यह है कि जो अपराध सुकरात पर लगाया गया, वह ठीक था वा नहीं; और उसके ठीक होने की दशा में राज्य को क्या करना उचित था? ज़यलर ने इस प्रश्न पर अति निष्पक्षता से विचार किया है, और प्रत्येक पुरुष जो विचार करने का कष्ट सहन करेगा, देखेगा कि सुकरात को मृत्युदण्ड देने

वालों का कृत्य अनुचित न था। मिलिटस ने सुकरात पर यह दोष लगाया था कि सुकरात अपनी सदाचार सम्बन्धी, धार्मिक तथा राजनैत्तिक शिक्षा के कारण एक भयानक पुरुष है और ऐसे पुरुष को अपना काम करने का अवकाश देना राज्य की मूलों पर कुठार चलाना है। हम देखेंगे कि इस इल्ज़ाम में कहां तक सत्य था।

(१) यूनान में सदाचार की नींव साधारण व्यवहार पर थी; प्रत्येक पुरुष से आशा की जाती थी कि जो पथ समाज में प्रचलित है उस पर आचरण करे। सुकरात ने कहा कि सदाचार को लोकाचार पर निर्भर करना भूल है; इस की नींव ज्ञान पर होनी चाहिये। हमें पूछना चाहिये कि क्यों किसी विशेष कार्य्य का करना निकृष्ट वा उत्तम है ? हमारे पूर्वज ऐसा करते चले आये हैं वा हमारे पड़ोसी ऐसा करते हैं, यह असम्बन्धित बात है।

(२) धर्म्म के विषय में प्रत्येक को जातीय देवताओं की पूजा करनी होती थी। मन्दिरों में आकाश बाणी सब के लिये माननीय थी। सुकरात ने इस आकाश बाणी के स्थान में वा इससे भिन्न अन्तरीय शब्द की ओर ध्यान आकर्षित किया; और अपने लिये सर्वदा अन्तरीय बाणी को प्रधानता दी।

(३) राज्याधिकारी बहुत सम्मतियों से चुने जाते थे। जैसा मिलिटस ने कहा, सुकरात इस प्रबन्ध को अति अनुचित समझता था और कहताथा कि यदि मांझी सम्मति से नहीं चुने जाते, परन्तु देखा जाता है कि कौन पुरुष उस कार्य्य के योग्य है, तो राज्याधिकारियों के संबंध में भी चुनाव का निर्भर योग्यता पर होना चाहिये। सुकरात राजनैत्तिक कार्य्य की अपेक्षा आत्मोन्नति को उच्चादर्श समझता था; यह भी यूनानी भाव के प्रतिकूल था। प्राचीन यूनानियों के विचारानुसार प्रत्येक मनुष्य राज्य की भलाई और गौरव के लिये जीता था, और जाति सेवा से उच्च कोई धर्म नहीं समझा जाता था; परन्तु जहां कहीं सुकरात अपनी और सर्वसाधारण की मति भिन्न देखता था, स्वमति को उच्चता देता था।

इन बातों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि सुकरात

की शिक्षा वास्तव में एक ऐसी विरुद्ध शक्ती थी, जिससे राज्य को भय होना चाहिये था। मिलिटस का इलज़ाम ठीक था और वास्तव में सुकरात राज्य के लिये भय प्रद था। अब केवल दो मार्ग खुले थे; यातो राज्य अपनी वर्तमान अवस्था में स्थित न रहे, या सुकरात का मुख बंद किया जाये। यह सम्भव है कि राज्य सभा के सभ्य स्वार्थ के वश में हों, परन्तु यह भी सम्भव है कि सद्भाव से वह किसी बड़े परिवर्तन के पक्ष में न हों। यदि वह किसी बड़े परिवर्तन को जाति के लिये हानिकारक समझते थे, और सुकरात ऐसे परिवर्तन को उत्पन्न करने का उपाय करता था, तो उसको अपने रास्ते से हटाने के लिये उन्हों ने ठीक यूनानियों के सदृश किया। हमारा विचार है कि सुकरात पर जो अपराध लगाया गया वह ठीक था, और वह राज्य के लिये भयप्रद था। इस अपराध को सत्य मान कर और सुकरात को अपराधी निश्चत करके, सुकरात को आहुति करना यूनानियों के भाव के अनुकूल था।

परन्तु राज्य सभा के सभ्य एक भूल में ग्रसित थे, वह समझते थे कि सुकरात की मृत्यु से वह राज्य को वर्तमान् दशा में रक्षित रख सकेंगे। थोड़ा समय व्यतीत होने पर भविष्यत बाणी पूरी हुई। प्रजातंत्र राज्य के दिन पूर्ण होने को थे, सुकरात की मृत्यु उन्हें अन्त के और निकट ले आई।

(९) सुकरात के शिष्य

सुकरात के सिद्धान्त के दो भाग थे; एक बुद्धि विषयक, द्वितीय आचार विषयक। बुद्धि विषयक भाग में वह ज्ञान के महत्व तथा सत्य ज्ञानोपलब्धी पर ज़ोर देता था। आचार भाग में उसकी शिक्षा थी कि हमारा जीवन धर्म का जीवन होना चाहिये, जिस में संयम के साथ भोग भी भोगे जायें। सुकरात के कुछ शिष्यों ने दोनों भागों को सन्मुख रक्खा, परन्तु कई ऐसे भी थे जिन्हों ने बुद्धि विषयक भाग को नितान्त दृष्टिवाह्य करदिया, और अपने सिद्धान्त को केवल आचार विषयक बनाया। इस द्वितीय मण्डली में भी दो भिन्न विचार थे। एरिस्टिप्पस (Aristippus) ने कहा,

जीवन का उद्देश सुखोपलब्धि है; एन्टिस्थिनिज़ (Antisthenes) ने कहा, जीवनादर्श केवल धर्म है। इन दोनों संप्रदाओं को अतिसुखवाद (Cyrenaicism) और अतित्यागवाद (Cynicism) कह सकते हैं।

अतित्याग वादियों ने सुकरात की शिक्षा के इस भाग पर ज़ोर दिया कि मनुष्य को बाह्यावस्था से स्वतन्त्र होना चाहिये। यह तब ही सम्भव है जब मनुष्य सुखों की चेष्टा को छोड़दे और अपना जीवन त्याग का जीवन बनाये; उन लोगों की मति अनुसार बुद्धिमान के लिये प्रसन्न होने के स्थान में उन्मत्त होना श्रेष्ठ है। उनकी शिक्षा थी-प्राकृत नियमानुसार जीवन व्यतीत करो, कुदरत की ओर जाओ।

पशुओं के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि उनकी आवश्यकतायें बहुत कम होती हैं; वह कोई सामग्री नहीं रखते; गृहों की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। मनुष्यों को भी सभ्यता से दूर भागना चाहिये, क्योंकि सभ्यता प्राकृतिकावस्था के प्रतिकूल होने से छोड़ने योग्य है। अति त्यागवादी इस पर आचरण भी करते थे, अतः उन में से उत्तम २ पुरुष, बिना सामग्री, बिना वस्त्र, बिना गृह रहते थे। भिक्षुकों का जीवन उनकी दृष्टि में आदर्श जीवन था। अग्नि पर भी निर्भर रखना नहीं चाहते थे और भोजन कच्चा ही कर लेते थे। मृत्यु पश्चात् शरीर के लिये स्थान की आवश्यकता नहीं समझते थे; यथा देव जानस ने, जो एन्टिस्थिनिज़ का बड़ा शिष्य था, आज्ञा की कि उसका शरीर दबाया न जाय, बलकि यूंहि फेंक दिया जाय। यह लोग लोक निन्दा से नहीं डरते थे, अपितु लाभदायक समझते थे, क्योंकि उनके विचारानुसार इस रीति से मनुष्य को अपना वास्तविक रूप ज्ञान होता है। वह किसी शत्रु से बदला लेने के पक्ष में न थे। उनके विचार में शत्रु से बदला लेने की रीति अपना सुधार है। यदि मनुष्य दूसरों से अधिक त्रासित किया जाय, तो आत्मघात करले। सामाजिक जीवन में भी उनका आदर्श कुदरती अवस्था की ओर लौटने का था। यह विवाह के पक्ष में न थे, क्योंकि इस से स्त्री व सन्तान पालन का जंजाल पड़ जाता है और मनुष्य स्वतन्त्र नहीं रहता। राजनैतिक वा नागरिक जीवन में यह दखल न देते थे,

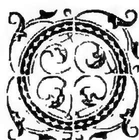
देश का इन्हे हित न था, पुनः यह अपने को जगत् वासी कहते थे। इनकी सम्मति में मनुष्यों में एक ही भेद विचारणीय है, और वह उनके गुण, अवगुण का है। देवजानिस बिकने लगा, तो कहा, "कौन पुरुष अपने लिये स्वामी मोल लेना चाहता है?"।

धर्म विषय में यह जातीय देवताओं और उनकी पूजा की परवाह न करते थे। केवल एक परमात्मा में विश्वास रखते थे, और कहते थे कि उसकी पूजा बलिदान से नहीं किन्तु धार्मिक जीवन व्यतीत करने से होती है।

इन लोगों का आत्मिक बल सराहनीय था, परन्तु इनकी असभ्यता ने सर्व साधारण को इनके प्रतिकूल कर दिया। अति त्यागवादी और निर्लज्ज एक ही अर्थों में वर्ते जाने लगे, और आजतक अति त्यागवादी घृणा का नाम है। इस पक्ष का उत्तर एरिस्टिप्पस और उसके मतानुयायियों ने दिया। उन्हों ने कहा कि यदि सदाचार किसी काम का है तो इस लिये कि उससे अधिक सुख मिल सकता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति है। भूत व्यतीत होगया, भविष्यत आया नहीं, और कौन कह सकता है कि आएगा वा नहीं। वर्तमान का क्षण हस्ती रखता है, इसमें जितना आनन्द भोग सकते हैं; भोग लेना चाहिये। इन लोगों के विचार में हमारा ज्ञान वर्तमान क्षण तक सीमित है। इस क्षण से परे हम कुछ जान नहीं सकते। बाह्य जगत् के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा व्यर्थ है, क्योंकि यह संभव ही नहीं। अति त्यागवादियों की तरह यह भी शान्ति के अभिलाषी थे, परन्तु जहां अतित्यागवादी इसकी प्राप्ति के लिये सुखों से बेपरवाह होना आवश्यक समझते थे, वहां यह भोगों के भोगने पर ज़ोर देते थे। इन लोगों के मनों में कदापि यह विचार नहीं आया कि भोगों का भोगना मन की शान्ति के निमित्त ऐसा ही है, जैसे अग्नि बुझाने के लिये घृत की आहुति देना। इनमें कई लोग तो सुख के ऐसे उत्सुक थे कि उसके लिये प्रत्येक कार्य्य करने को उद्यत हो जाते थे। एरिस्टिप्पस धन की प्राप्ति के लिये डायोनीस्युस की

अनुचित खुशामद करता था।एक बार डायोनीस्युस ने उसके मुख पर थूक दिया; एरिस्टिप्पस ने उसके पांव पकड़ लिये। राजा ने धमकाया तो कहा, "तुम्हारे कान ही तुम्हारे पाओं पर लगे हुए हैं, मैं क्या करूं?" डायोनीस्युस ने कहा, 'तत्वदर्शियों को तो किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, तुम क्यों मांगते हो? विचित्र बात है, कि तत्वदर्शी धनाढ्यों के पास आते हैं, परन्तु धनवान कभी उनके पास नहीं जाते'। एरिस्टिपस ने कहा, "तत्त्वदर्शी जानते हैं कि उन्हें किस वस्तु की आवश्यकता है, धनवानों को इस बात का ज्ञान नहीं। मुझे जब तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है, तो सुकरात के पास जाता हूं; जब धन की आवश्यकता होती है, तुम्हारे पास आता हूं"।

सार यह है, कि यह दोनों मत तत्त्वज्ञान के आचार सम्बन्धी भाग पर ही ज़ोर देते थे, और इस बात में सुकरात से जो सर्वदा ज्ञान के महत्व के विषय में शिक्षा देता रहा, भिन्न थे। जहां सुकरात संयम से भोग भोगने के पक्ष में था, वहां अति त्यागवादी भोगों के जीवन के नितान्त प्रतिकूल थे; और अति सुखवादी भोगों का भोगना जीवन का मुख्य कार्य्य समझते थे। इन दोनों सम्प्रदायों ने सुकरात की शिक्षा से एक भाग को ग्रहण किया, और दूसरे भाग की ओर से बेपरवाह रहे; जिस शिष्य ने सुकरात के तर्क के समग्र भागों को सम्मलित करके उसके तर्क की वृद्धि की, वह अफ़लातूं है।



तृतीय अध्याय

अफलातूं



(१) जीवन

अफलातूं (४२७—३४७, पू० खृ०) ऐथन्ज़ के एक धनी कुटुम्ब में पैदा हुआ। प्रथम हिरैक्लिटस के एक शिष्य ने उसे तर्क में शिक्षा देना आरम्भ किया, परन्तु पीछे वह सुकरात का शिष्य बन गया। आठ वर्ष तक वह सुकरात के साथ रहा। सुकरात की मृत्यु के पश्चात् अपने स्वाध्यायियों के साथ वह अपने एक गुरु भाई यूक्लिडिज़ के पास चला गया। वहां कुछ समय तक ठहर कर भिन्न देशों में भ्रमण किया। लग भग दश वर्ष की यात्रा के पश्चात्, सं० ३८०, पू० ख० में वह ऐथन्ज़ में आया और वहां तर्क की शिक्षा देना आरम्भ किया। कुछ समय ठहर कर दक्षिणीय इटली और सिसली में गया और डायोनीस्युस की राज्य सभा में पहुंचा। किसी बात पर रुष्ट होकर राजा ने उसे एक स्पार्टन के अधिकार में दे दिया, और उसने उसे गुलामी में बेच दिया। तत्पश्चात् एक पुरुष ने धन देकर उसे स्वतन्त्र कराया, और उसने ऐथन्ज़ में आकर पुनः शिक्षा का कार्य्यारम्भ किया। पचास वर्ष लग भग इस कार्य्य को करके इसका देहान्त होगया।

(२) किन कारणों ने अफलातूं को आदर्श द्रष्टा बनाया ?

अफलातूं और सुकरात दो भिन्न मार्गों से जीवन में प्रविष्ट हुए। सुकरात निर्धन माता पिता का पुत्र था; अफलातूं धनी कुल में उत्पन्न हुआ था। सुकरात का जीवन सर्व साधारण के मध्य में सामान्य स्थिति से व्यतीत हुआ था; अफलातूं सर्व साधारण से परे रहा। सुकरात की शिक्षा अत्यन्त साधारण थी, कभी वह समित्रों के गुण वर्णन करता था, कभी किसी निर्धन को अपने सम्बन्धियों को क्षुधा की विपत्ति से बचाने का उपाय बताता था।

अफलातूं कभी २ भूमि पर चलता था, परन्तु प्रायः वायु में उड़ता था। उसकी पुस्तकों में सब से प्रसिद्ध रीति से जो बात पाठकों पर असर करती है, वह उसके विचारों का ऊपर उड़ना है। सुकरात के जीवन में रसिकता का लेश भी न था; इसके प्रतिकूल अफलातूं प्रसिद्ध रसप्रिय पुरुष था। जीवन के सौन्दर्य उसकी दृष्टि में बड़ी उच्च पदवी रखते थे। युवावस्था में वह कविता करता था, तत्पश्चात् जब दार्शनिक शिक्षा के लिये कविता को छोड़ दिया, तो भी लेख की रीति रसपूर्ण रही। उसका गद्य पद्य की रीति पर है। इन दो कारणों के अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी था, जिसने अफलातूं के नेत्र ऊपर को करदिये। उसने देखा कि ऐथन्ज़ निवासी सुकरात जैसे देवता को, जिसका सारा जीवन उनकी शिक्षा तथा सेवा में व्यतीत हुआ, मार सकते हैं, और उसके लिये किञ्चिन्मात्र भी पश्चाताप नहीं करते। ऐसे राज्य के लिये जिसमें इस प्रकार के उपद्रव हो सकते हैं उसके आत्मा में अधिक हित उपस्थित नहीं रह सकता था। अन्य यूनानवासियों की तरह वह भी मानता था कि मनुष्य की धार्मिक उन्नत्ति का एक मात्र साधन उत्तम राज्य की उत्तम प्रजा बनना है; परन्तु अपने समय के ऐथन्ज़ को वह आदर्श राज्य नहीं समझता था। एक तार्किक अव्यवस्थित राज्य को सहन योग्य नहीं समझ सकता, और यहां तो ऐथन्ज़ वासियों ने प्रमाण देदिया था कि उनके प्रबन्ध में दुर्गन्ध युक्त तत्त्व वर्तमान हैं। अतः अफलातूं ने अपनी सारी बुद्धि एक आदर्श प्रजातन्त्र राज्य के नियम बनाने में व्यय की।

(३) संवाद

अफलातूं की शिक्षा जो हम तक पहुंची है, संवादों के रूप में है। संवाद संख्या में ३५ हैं। संभव है उनमें से कोई उसके लिखे हुए न हों। यह भी संभव है कि उनमें से कुछ नष्ट होगये हों। अफलातूं ने अपने लेखों को संवाद का रूप क्यों दिया? इसके कई उत्तर दिये गये हैं। कई विद्वानों का विचार है कि संवाद की रीति सुकरात की शिक्षण रीति थी, और यही प्रायः अफलातूं की शिक्षा की रीति थी। अफलातूं प्रकाशित करना चाहता था, कि

उसके लेख उन संवादों का विवर्ण हैं जो वास्तव में हुए। कई कहते हैं कि अफलातूं केवल अपने सिद्धान्तों को ही सर्वसाधारण के आगे रखना नहीं चाहता था, किन्तु अन्य विचारों को भी जो उसके समय वा उससे पूर्व प्रचलित थे, तुलना के लिये उपस्थित करता था; अर्थात् इन संवादों में वह यह प्रकाशित करना चाहता है कि उसके तर्क की वृद्धि किस प्रकार से हुई। एक तीसरा विचार भी है, और वह यह है कि अफलातूं ने संवाद को मनोविज्ञान के एक प्रसिद्ध नियम के कारण चुना। उसके विचार में शोच विचार की प्राकृतिक रीति संवाद है। जब हम अकेले अपने मन में विचार करते हैं, तो वह भी प्रश्नोत्तर रूप में होता है; अर्थात् संवाद चिंतन की वास्तविक रीति है॥

(४) संवादों में सुकरात

इन संवादों में प्रसिद्ध वक्तता करने वाला सुकरात है। अफलातूं स्वशिक्षा को सुकरात की शिक्षा प्रकट करता है। ऐसा करने से सारे संवादों को एक प्रकार की एकता मिल गई है। परन्तु ऐसी एकता अफलातूं का अभिप्राय नहीं हो सकती थी। सुकरात को ऐसे आदर का स्थान देने का एक बड़ा कारण वह श्रद्धा और भक्ती थी, जो अफलातूं अपने गुरु के लिये अनुभव करता था। अफलातूं ने एक अवसर पर कहा, 'मुझे तीन बातों का गौरव है—एक इस बात का कि मैं यूनान में पैदा हुआ हूं; दूसरे इस बात का कि मैंने सुकरात के समय में जन्म लिया; और तीसरे इस बात का कि मैं सुकरात का शिष्य हूं'। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी था। अफलातूं की दृष्टि में तत्त्वज्ञान केवल शुष्क ज्ञान नहीं था, किन्तु जीवन भी था; और उसके सिखाने की सर्वोत्तम प्रणाली यह थी कि सिद्धान्तों पर विचार करने के अतिरिक्त शिष्यों के आगे एक स्थूल तार्किक को रक्खा जाय। अफलातूं के विचार में उस समय केवल एक ही ऐसा पुरुष था और वह सुकरात था। गुरु भक्ति के विचार के अतिरिक्त अपने मनोरथ, तर्क की शिक्षा, के लिये भी वह आवश्यक समझता था कि सुकरात की व्यक्ति सर्वदा शिष्यों के साह्मने रहे। जैसा ऊपर कहा गया है,

अफलातूं के संवादों में विख्याता सुकरात है। इस कारण से अफलातूं की अपनी शिक्षा को सुकरात की शिक्षा से न्यारा करना कठिन है। परन्तु यह कठिनता ऐसी नहीं जिसका उपाय न होसके।

इन संवादों में कुछ तो वास्तव में सुकरात के संवाद हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें अफलातूं ने सुकरात के तत्त्व विज्ञान की नींव पर स्वविचारों का विकाश किया है; इनमें कुछ सुकरात का सिद्धान्त है, कुछ अफलातूं का अपना विचार ही वर्णित है।

(५) अफलातूं का सिद्धान्त

तर्क का मुख्य प्रश्न यह है—यह संसार क्या है ? कहां से आया है ? इसके वास्तविक रूप के विषय में हम क्या कह सकते हैं? जिन वस्तुओं का ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है, वह सर्वदा बदलती रहती हैं; उनकी अवस्था एक नहीं रहती। मुझे कुरसी का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि कुरसी सर्वदा स्थित रहने वाली वस्तु नहीं। मेरे देखते २ यह परिवर्तित होगई है। यह विचार हिरेक्लिटस ने प्रकाशित किया था; अफलातूं ने इसे स्वीकार किया। परन्तु वह कहता है कि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि हमें ज्ञान होता है; अतः आवश्यक है कि ज्ञान का स्रोत इन पदार्थों से भिन्न कोई वस्तु हो। यदि परिवर्तन होने वाली वस्तु ज्ञान का स्रोत नहीं बन सकती, तो किसी अन्य सदा स्थित रहने वाली व्यक्ति की ढूंड करनी चाहिये। पृथक २ कुरसियां बनती हैं, घिसती हैं, पुरानी होती हैं और नष्ट होजाती हैं; यही दशा पुष्पों की है; यही नियम मनुष्यों के शरीर में है। परन्तु आदर्श जगत् में एक ऐसी कुरसी उपस्थित है जो कभी नहीं बनती, घिसती नहीं, पुरानी नहीं होती, और नाश रहित है। यह नाना कुरसियें जो हम देखते हैं, उसकी नकलें हैं। इसी प्रकार नाना पुष्प एक अनादि और परिवर्तन रहित पुष्प की, जो आदर्श जगत् में स्थित है, नकलें हैं। यही मानुषी शरीरों के विषय में कहा जासकता है। दृश्य जगत में हम एक प्रकार की अनेक वस्तुएं देखते हैं; यह सब एक सत्पदार्थ की नकलें हैं। वास्तविक जगत् विज्ञान आकारों (Ideas) का है; ज्ञानेन्द्रियों का जगत नकल, दिखलावा है।

जो लोग दृश्य जगत् को ही वास्तविक जगत् समझते हैं, वह भ्रांति में है ; यह माया का जाल है। परन्तु दूसरी ओर यह कहना भी असत्य है कि यह जगत् कोई अस्तित्व नहीं रखता। इसके पदार्थ वास्तविक पदार्थों की नकलें हैं, और इस कारण से वह भी अपनी स्थिति रखते हैं, यद्यपि वह स्थिति परतंत्र स्थिति है। भिन्न२ घोड़े जो दीखते हैं, आपस में भिन्नत्व रखते हैं और प्रत्येक में कोई न कोई त्रुटि है। कारण यह है कि वह सब नकलें हैं, और सदोष अपूर्ण नकलें हैं। एक छोटी श्रेणी के बालक यदि एक घोड़े का चित्र खैंचें, तो उन में से प्रत्येक में कोई त्रुटि होगी और यह त्रुटि सब में एक ही नहीं होगी। इसी प्रकार जो घोड़े हम देखते हैं, वह भी आदर्श सृष्टि के वास्तविक घोड़े की दोष युक्त भद्दी नकलें हैं। जब हम किसी घोड़े को सुन्दर कहते हैं, तो उससे आशय यह होता है कि यह वास्तविक घोड़े की, जो सौंदर्य्य का आदर्श है, अच्छी नकल है। अन्य पदार्थों के विषय में भी यही समझ सकते हैं। आदर्श सृष्टि सत्य और सौंदर्य्य का गृह है, ज्ञानेन्द्रियों का जगत् असुंदरता तथा अनृत का गृह है।

हमारे आत्मा ने इस जीवन से पूर्व इन आदर्शों का दर्शन किया है। अब जो यत्न हम चीज़ों के ज्ञान की प्राप्ति के लिये करते हैं, वह वास्तव में पूर्व ज्ञान को स्मर्ण करने के अर्थ है। अफ़लातूं के सिद्धान्त में सीखना पूर्वज्ञान का स्मर्णमात्र है। हमारा अनुभव हमारे मन में कोई नूतन वस्तु प्रविष्ट नहीं करता, किन्तु हमें वही दर्शाता है जो हमारे अन्तर स्थित है, परन्तु हमारी दृष्टि से ओझल है।

यह विज्ञान आकर वा आदर्श सर्वदा से उपस्थित हैं। इन में धर्म्म का आदर्श सर्वप्रधान है ; इसे परमात्मा कहते हैं। परमात्मा ने इन आदर्शों और आकार रहित प्रकृति के मेल से जगत् के आत्मा को बनाया। इस आत्मा ने प्रकृति में प्रवेश किया और इस से चार प्रकार के परमाणु बन गये। इनमें से प्रत्येक के लिये भिन्न २ जन्तुओं की आवश्यकता थी। अग्नि निवासी जन्तु देवता हैं, जिन्हें स्वयं परमात्मा ने बनाया। शेष सारे जन्तु इन देवताओं ने बनाये। मनुष्य में बुद्धि नित्य है; यह स्वयं पर-

मात्मा ने बनाई है। इच्छायें और क्षात्रभाव अमर नहीं; इनको देवताओं ने बनाया है। बुद्धि को पैदा करके परमात्मा ने तारागणों में रखदिया। ज्यों २ देवता विशेष शरीर बनाते हैं, उस बुद्धि के परमाणु उनमें प्रवेश करते हैं। उनका कार्य्य यह है कि मानुषी इच्छाओं तथा क्षात्र भाव को अपने वश में करें। जब इसमें कृत्य-कृत्य होजाते हैं, तो पुनः तारागणों में चले जाते हैं। यदि इसमें सुफलता न हो, तो आवागमन चक्र में पड़ जाते हैं।

इस व्याख्या में यह कहना कठिन है कि सारा तर्क है, वा कोई भाग केवल कविता है। बहुधा स्थलों पर ऐसा होता है कि जहां तर्क चुप होजाता है, अफलातूं कविता की शरण लेता है: और जो कुछ वह कहता है, उससे आशय यह होता है कि यहां बुद्धि को प्रवेशाधिकार नहीं।

(८) राज्य और प्रत्येक

जाति(Universal)ही सब कुछ है,प्रत्येक(Particular)कुछ नहीं-यह सृष्टि के पदार्थों के सम्बन्ध में अफलातूं के सिद्धान्त का सार था। मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में राज्य और प्रत्येक के विषय में भी उसका विचार इसी प्रकार का था। उसकी सम्मति में प्रत्येक राज्य के लिये जीता है,और राज्य में ही उन्नत्ति कर सकता है। किसी मनुष्य के लिये जो धार्म्मिक बनना चाहता है, दो बातों की आवश्यकता है:—एक यह कि वह अच्छे राज्य में रहता हो, दूसरी यह कि उस राज्य में वह अपने कर्तव्य का पालन करता हो।

अफलातूं के विचार में मनुष्य राज्य का छोटा चित्र है, और उसने यत्न किया है कि राज्य और प्रत्येक की समानता को प्रगट करें।

जैसा हम देख चुके हैं, मनुष्य के आत्मा में तीन भाग हैं—

(१) बुद्धि, जो अमर है।

(२) क्षात्र भाव,जिस से वह नाना प्रकार के भयों का मुकाबला कर सकता है।

(३) कामनायें।

कामनाओं का स्वभाव है कि स्वतन्त्र होने की चेष्टा करें ; बुद्धि क्षात्रभाव की सहायता से उन्हें वश में रखती है। साथ ही बुद्धि देखती है कि क्षात्र भाव आप स्वतन्त्र न हो होजायं। इसी प्रकार राज्य में मनुष्य समूह के तीन भाग हैं। एक भाग विचार करता है, दूसरा रक्षा करता है, तीसरा काम करता है। तीसरे भाग में दुकान्दार, वणिज व्योपार करने वाले, कारीगर आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन यूनान में इस भाग के लोगों को नागरिक होने (Citizenship) के अधिकार प्राप्त न थे ; उनका काम दूसरों के वश में होना और उनके लिये काम करना था। इस श्रेणि में सब से निकृष्ट पदवी दासों की थी। सार यह है, कि अफलातूं की सम्मति में विद्वानों को सहायकों की सहायता से दुकान्दारों आदि पर शासन करना चाहिये, और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सहायक (क्षात्रभाव वाले लोग) सर्वथा स्वतंत्र न होजायें। *

आचार के सम्बन्ध में अफलातूं ने धर्म्म के विशेष लक्षणों का वर्णन किया है। यह गणना में चार हैं—ज्ञान अथवा विचार, शूरता, संयम और न्याय। इन में न्याय की पदवी सर्वप्रधान है, इससे तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य जीवन के सारे अंग मिलजुल कर रहें, और कोई अंग दूसरे के अधिकारों को पांव में कुचल न दे। प्रत्येक आप जिये और दूसरों को जीने दे। बाकी तीन लक्षण आत्मिक शक्तियों की वृद्धि हैं। आत्मा जान सकता है; इसलिये प्रत्येक का धर्म है कि ज्ञान शक्ति को बल दिया जाय। आत्मा में काम करने की शक्ति है ; इसलिये प्रत्येक का धर्म्म है कि यह शक्ति बुद्धि के वश में रहे और कामनाओं को उसके आधीन रक्खे। आत्मा में कामनायें हैं; प्रत्येक

* अफलातूं का वर्णविभाग लगभग वही है जो प्राचीन आर्य्यवर्त में प्रचलित था। भेद केवल इतना है, कि अफलातूं यद्यपि वैश्यों और शूद्रों में भेद करता है, तथापि शूद्रों की तरह वैश्यों को भी नागरिक के अधिकारों से वञ्चित बताता है। प्राचीन यूनानियों ने यह अनुभव ही नहीं किया कि मनुष्य, मनुष्य होने के कारण, अधिकारों का स्वामि है, और यदि उसमें मानसिक या शारीरिक अयोग्यता नहीं तो उसका पेशा उसके अधिकारों को छीन नहीं सकता।

का धर्म्म है कि इन्हें बुद्धि के वश में रक्खे। समूह में भी यह चारों गुण होने चाहियें। कोई समाज उन्नत्त नहीं होसकता, जब तक उसमें ज्ञान, बल, संयम और न्याय न हों। समाज का ज्ञान इसके विद्वानों का ज्ञान है; इसका बल इसके क्षत्रियों का बल है; इसका संयम इसकी धन कमाने वाली श्रेणी का संयम है। समाज में न्याय होने का अर्थ यह है कि हर एक मनुष्य की पदवी उसकी योग्यता पर निर्भर हो।

प्रत्येक के जीवन में, वह जीवन शारीरिक हो अथवा आत्मिक, कोई अंग केवल अपने लिये नहीं जीता। इन अंगों में मेरे तेरे का झगड़ा प्रत्येक अंग के लिये और सारे शरीर के लिये अति हानि कारक होता है। समाज प्रत्येक का ही विस्तार है; इसलिये इसमें भी सब से उच्चादर्श समूह की भलाई होना चाहिये। समाज की उन्नत्ति के लिये आवश्यक है कि मेरे तेरे का झगड़ा चुका दिया जाय। ममता और अहंकार के भाव मानुषी सृष्टि के अंग हैं, परन्तु यह उस सृष्टि का निकृष्ट भाग हैं, और इन्हें बुद्धि के आधीन होना चाहिये। बुद्धि की आज्ञा यही है कि समाज में से यह भेद दूर किये जायें।

(७) आदर्श की सिद्धि किस तरह हो सकती है ?

इस आदर्श की सिद्धि के लिये अफलातूं कई तजवीज़ें पेश करता है। पहली तजवीज़ यह है कि समाज में सारी सम्पत्ति सांझी हो; कोई पुरुष किसी वस्तु को अपनी न बनाये। सब कुछ समाज का हो, और जो कुछ किसी को आवश्यक हो, वर्त ले। दूसरी तजवीज़ यह है कि स्त्रियों और सन्तान के सम्बन्ध में भी इसी नियम पर आचरण किया जाये। सारे बच्चे राज्य अथवा समाज के हैं; और यह निश्चित करना कि कौन स्त्री पुरुष सन्तानोत्पत्ति के योग्य हैं, समाज का काम है। जब राज्य में मनुष्यों की एक विशेष संख्या की आवश्यकता हो, तो राज्य की आज्ञानुसार योग्य स्त्री पुरुष सन्तानोत्पत्ति करें, और उसके पीछे आपस में या

सन्तान से किसी प्रकार का विशेष सम्बन्ध न रक्खें। बच्चों के पालन पोषण का प्रबन्ध समाज की ओर से हो ; इस के लिये योग्य दाइयां रक्खी जायें। हर एक बालक अपने से बड़ों को माता पिता के समान जाने, और बड़े छोटों से सन्तान की तरह प्रेम करें। इस नियम पर आचरण करने से मनुष्य शारीरिक अवस्था में उन्नत होते जायेंगे, और राज्य में से द्वेष का सब से बड़ा कारण दूर हो जायेगा। अफ़लातूं के विचार में माता पिता शब्दार्थों में सन्तानोत्पत्ति के यन्त्र हैं, और इस से अधिक कुछ नहीं।

(१०) तार्किकों का राज्य

इस प्रकार की तजवीज़ों को विषयों में ग्रस्त हुए २ लोग स्वीकार नहीं कर सकते थे। इस रोग के लिये अफ़लातूं का निदान यह है, कि जिस प्रकार प्रत्येक के जीवन में बुद्धि कामनाओं पर शासन करती है, उसी प्रकार समाज में भी सारा बल विद्वानों के हाथ में होना चाहिये। स्पष्ट शब्दों में अफ़लातूं का विचार है कि जब तक तार्किक राजा नहीं बन जाते या राजा तार्किक नहीं बन जाते, मनुष्यों के दुःखों का अन्त होना असम्भव है।

तत्त्वदर्शी ही पदार्थों को अपने शुद्ध स्वरूप में देखता है ; 'वही सारे काल का और सारी हस्ति का देखने वाला है' ; वही अल्पकालिक लाभ का ध्यान न करके धर्म्म पर आरूढ रह सकता है। जो लोग ऐसे ज्ञान से वञ्चित हैं, वह कठिन समय में सीधा खड़ा नहीं रह सकते। अफ़लातूं ने आप राज्य नैतिक कामों में कोई भाग नहीं लिया, क्योंकि वह समझता था कि उस के समय के ऐथन्ज़ में उसके लिये काम का अवसर न था। यूं भी वह समझता था कि राजनैत्तिक कार्य्य की अपेक्षा ज्ञान ध्यान में समय व्यतीत करना उच्चादर्श है। परन्तु सर्व साधारण की दशा पर तरस कर के वह चाहता है कि तत्त्वदर्शी अपने विचार के अवसरों को कुर्बान करें और मनुष्यों पर राज्य करें। एक पुरुष के लिये ऐसी कुरबानी करना बहुत बड़ी कुर्बानी होगी ; इस लिये अफ़लातूं कहता है कि तार्किक बारी २ राज्य सम्बन्धी काम को करें।

(११) तत्त्वदर्शी के लक्षण

अफ़लातूं के समय में भी लोग समझते थे कि तार्किक हवा में उड़ते हैं, पृथिवी पर नहीं चलते : और इस लिये उनमें प्रबन्ध करने की योग्यता नहीं होती। अफ़लातूं इसके उत्तर में कहता है कि जिन लोगों को सर्वसाधारण तार्किक समझते हैं, वह इस नाम के योग्य नहीं। सच्चे तत्त्वदर्शी में निम्न लिखित गुण होने चाहियें:—

(१) परिवर्तन रहित सत्य को जानता हो।

(२) इस सत्य को प्यार करता हो।

(३) सत्य भाषण पर आचरण करता हो।

(४) इन्द्रियों के सुखों को अनुभव भी न करता हुआ, आत्मिक आनन्द में मग्न रहता हो।

(५) नीच भावों और संकोच से सर्वथा मुक्त और उदारचित्त हो।

(६) न्याय पर आचरण करने वाला और नम्र हो।

(७) अच्छी स्मरण शक्ति रखता हो।

(८) स्वाभाविक उसकी प्रवृत्ति सत्य की ओर जाने वाली हो।

इस प्रकार के मनुष्यों को तैयार करने के लिये आवश्यक है कि शिक्षा का सन्तोष जनक प्रबन्ध किया जाये। अफ़लातूं की सम्मति में प्रत्येक समाज के लिये जीता है, और इस लिये उसकी शिक्षा की बाबत निश्चय करना समाज का काम है।

(१२) शिक्षा प्रणाली

अफ़लातूं की शिक्षा प्रणाली यह है:—

प्रथम धार्म्मिक कथाओं के द्वारा धार्म्मिक सच्चाइयों की शिक्षा दी जाये। अफ़लातूं के समय में देवी देवताओं की जो कहानियां प्रचलित थीं, उनके अनुसार देवी देवता भी सर्वथा सदाचारी नहीं थे। इस दोष के कारण अफ़लातूं इन कथाओं को सर्वथा त्यागने योग्य नहीं समझता, वरंच कहता है कि इनका संशोधन किया जाये। उसकी सम्मति में ऐसी कहानियों के सिखाने में जो वास्तव

में सच्ची नहीं, परन्तु अच्छे भाव का प्रकाश करती हैं, हानी नहीं है। सचाई का निर्भर घटनाओं पर नहीं, वरंच उस शिक्षा पर है जो कहानी से ग्रहण की जा सकती है। इन कहानियों के पश्चात् बालक को सदाचार और सभ्यता की शिक्षा देनी चाहिये। इसके पीछे जो शिक्षा दी जाये, उस में दो चीज़ें प्रधान हों—राग और व्यायाम। राग मनुष्य के आत्मा को कोमल बनाता है और उस में से अखड़पन दूर करता है। व्यायाम से केवल शरीर की पुष्टी ही नहीं होती, किन्तु आत्मा भी बलवान् और नियम बद्ध बनता है। व्यायाम के विषय में अफ़लातूं की सम्मति है, कि १४ से १७ वर्ष की आयु तक, ३ वर्ष, इसके लिये व्यय किये जायें। इस शिक्षा के पीछे पबलिक जीवन का पहिला भाग आरम्भ होता है। जिन लोगों को राज्य में उच्च नैतिक काम करना है, उनके लिये अफ़लातूं के विचारानुसार फिर अधिक शिक्षा का प्रवन्ध होना चाहिये। इस दूसरे भाग में प्रथम गणित के विशेष भाग पढ़ाये जायें, और अन्त में तर्क सिखलाया जाय। *

इस प्रणाली में व्यायाम के लिये जीवन का एक विशेष भाग पृथक् किया गया है। नवीन विचार यह है कि मानसिक और शारीरिक शिक्षा सारे ब्रह्मचर्य्य आश्रम में साथ २ चलती जाय। राज्य कर्म्मचारियों के लिये अफ़लातूं राजनीति की आवश्यकता नहीं समझता, किन्तु गणित और तर्क पर ज़ोर देता है। इस प्रणाली में साहित्य को भी इस की पदवी नहीं दी गई। अफ़लातूं केवल धार्म्मिक गीतों के सिखाने की आज्ञा देता है। उसके आदर्श राज्य में कवियों, विशेष करके नाटक लिखने वालों, के लिये कोई जगह नहीं।

---

* तर्क की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि इसका समय विद्यार्थी जीवन में सब से पीछे आता है, और यह सारे विद्यार्थियों के लिये नहीं होती। ऐसा ही विचार प्राचीन आर्य्यों का भी था।

नाटक के विरुद्ध उसके प्रमाण यह हैं:—

(१) नाटक लिखने वाला नकल की नकल करता है। प्रथम तो विशेष चीज़ें ही विज्ञानाकारों की नकल हैं। नाटक लिखने वाला इन चीज़ों की भी नकल करता है और इस तरह हमें सत्य पदार्थ के ज्ञान से परे रखता है।

(२) कवि प्रायः धोखा देते हैं; उनके वर्णनों में अत्युक्ति दोष होता है।

(३) नाटक लिखने वाला मन के वेगों को उभारता है। मनुष्य जीवन का आदर्श यह है कि इन वेगों को उभरने न दे। नाटक देखते हुए हम दूसरों के दुःख में दुःख अनुभव करते हैं; पाप को देख कर क्रोधित होते हैं; प्रेम का भाव उपजता है। यह सब कुछ निर्बलता का प्रकाश है। जो पुरुष दूसरों के दुःख में दुःख अनुभव करता है, वह अवश्य अपने दुःखों को भी अनुभव करेगा। उच्च शिक्षा का उद्देश्य यह है कि हम सुख दुःख दोनों के प्रभावों से मुक्त हो जायें।

(४) जो पुरुष नाटक में खेल खेलता है, वह आप आचार-हीन हो जाता है। आज वह एक अत्याचारी राजा बनता है, कल एक दुःखी दास बनता है, परसों देशभक्त और उसके अगले दिन देश द्रोही बनता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका अपना स्थित आचार कुछ नहीं होसकता।

(१३) क्या अफ़लातूं का आदर्श राज्य एक यूनानी रियासत है?

एक हद तक अफ़लातूं का आदर्श राज्य यूनानी रियासत है। अफ़लातूं का अपना मन एक ऐथन्ज़ के रहने वाले का मन था। परन्तु स्पार्टा की वीरता पर भी वह मोहित था, और उसके आदर्श राज्य के बहुत से नियम स्पार्टा से लिए गये हैं। स्पार्टा में जीवन एक प्रकार से सैनिक जीवन था; ऊंचे वर्णों के लोग इकट्ठा भोजन करते थे, और गृह कार्य्यों में बहुत गरस्त न होते थे। स्पार्टा में

अधिकारों के स्वामि नगर वासियों को वणिज करने की आज्ञा न थी। यहां राज्य प्रत्येक के लिये नियत् करता था कि वह किस प्रकार के वस्त्र पहने, किस प्रकार का भोजन करे, किस आयु में विवाह करे, और किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करे। माता पिता के सन्मान पर ज़ोर दिया जाता था, परन्तु बूढों और रोगियों को भूखा रख कर मृत्यु को सौंपा जाता था। इसी प्रकार जो बच्चे रोगी अथवा अति दुर्बल होते थे, उन को बालावस्था में ही मार दिया जाता था। किसी पुरुष को जो राज्य के लिये लाभकारी नहीं हो सकता था, आज्ञा न थी कि जीता रह कर अन्न महंगा करे। अफ़लातूं ने इन बातों के सम्बन्ध में अपने आदर्श राज्य के लिये स्पार्टा से सीखा। तरबीयत (Culture) का अंग ऐथन्ज़ के समाज से लिया गया है। परन्तु इन अंगों के अतिरिक्त जो बात अफ़लातूं के आदर्श में विशेषतः प्रसिद्ध है वह न स्पार्टा में और न ऐथन्ज़ में ही विद्यमान् थी। यह तत्त्व-दर्शियों का राज्य है। अफ़लातूं अपने समय के यूनानियों से इस बात में भी भेद रखता था कि वह राजनैत्तिक काम को सर्वोत्तम काम नहीं समझता था। उसकी सम्मति में ज्ञान ध्यान में जीवन व्यतीत करना सर्वोत्तम आदर्श है।

(१४) अफ़लातूं के सिद्धान्त की समीक्षा

दो सहस्र वर्षों से अधिक समय के तजर्बे ने प्रकाशित कर दिया है कि अफ़लातूं के आदर्श की सिद्धि नहीं हो सकती। अफ़लातूं आप इसे एक स्वप्न समझता था। हम यहां संक्षेप से देखें गे कि क्या वास्तव में उसका आदर्श राज्य एक ऐसा आदर्श है, जिसकी ओर चलने का यत्न तो अवश्य ही करना चाहिये, चाहे उसकी सिद्धि हमारे वश में न हो? अफ़लातूं की सारी शिक्षा की नींव में यह विचार है कि कोई मनुष्य अपने लिये नहीं जीता; प्रत्येक के धर्म्म हैं, अधिकार नहीं। यह विचार मिथ्या है; और मनुष्य समूह की उन्नति का रहस्य एक बड़ी सीमा तक प्रत्येक के अधिकारों का पहिचानना है। प्रत्येक अपने कर्म्म के लिये उत्तर दाता है, और यह उत्तरदातृत्व (ज़िम्मेवारी) अपने साथ अधि-

कार लाती है। यूनानियों की सम्मति में सारा समाज समष्टि रूप से उत्तर दाता था, और उसी के अधिकार थे।

मनुष्य के शरीर में निःसन्देह कोई अंग अपने लिये नहीं जीता, वरंच हर एक समग्र शरीर के लिये जीता है। परन्तु जब हम समाज को एक मनुष्य से उपमा देते हैं, तो हमें ध्यान रखना चाहिये कि दोनों की समानता एक सीमा तक जाती है, उस से परे नहीं। प्रत्येक अनुभव करता है; समाज अनुभव नहीं करता। प्रत्येक में एक चैतन्यात्मा है; समाज ऐसा चैतन्यात्मा रखने वाला पदार्थ नहीं। समाज एक नाम है जो हम मनुष्यों के समूह के लिये वर्तते हैं। जब हम सामाजिक सम्मति या समय के भाव का वर्णन करते हैं, तो हम जानते हैं कि हम अलंकार की भाषा वर्त रहे हैं। सम्मति या भाव प्रत्येक के हो सकते हैं; समूह के, जो चैतन्य वस्तु ही नहीं, नहीं हो सकते। अफ़लातूं अपने समय की सन्तान था, और इस लिये उसने इस सच्चाई को अनुभव नहीं किया।

अफ़लातूं का अभिप्राय यह था कि समाज में एकता प्रधान चिन्ह हो। एकता दो प्रकार की होती है। एक यह कि सारे पदार्थ सर्वथा एक प्रकार के हों; यह निचले दर्जे की एकता है, और असभ्य जातियों में पाई जाती है। दूसरी एकता उच्चतर है; उसे साङ्ग (organic) एकता कहते हैं। इस में व्यक्तियां उन्नति करती हैं, परन्तु उस उन्नति की दौड़ में वह एक दूसरे को गिराती नहीं। अफ़लातूं अपनी शिक्षा प्रणाली में निचली श्रेणी की एकता चाहता है। वह सब पौरवों को एक ही नमूने के मनुष्य बनाना चाहता है। इसी प्रकार की एकता के लिये उसने वह तजवीज़ें की हैं, जिन्हें हम आचरण में लाने के योग्य नहीं समझते। जैसा हम आगामी अध्याय में देखेंगे, अरस्तु ने यह प्रकाशित करने का यत्न किया है, कि अफ़लातूं की प्रणाली उसके अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी उपयुक्त प्रणाली नहीं। हम यहां इस से उच्च विचार लेते हैं। हम कहते हैं कि वह आदर्श ही स्विकृति-योग्य नहीं। पुरुष और स्त्री नितान्त एक नमूने के मनुष्य नहीं। अफ़लातूं ने स्त्री

और पुरुष के लिये एक ही प्रकार की शिक्षा, एक ही प्रकार का व्यायाम, एक ही प्रकार का जीवन उपदेश किया है, क्योंकि उसकी सम्मति में उन में केवल लिंग का भेद है। अब हम इस विषय को उस से अच्छा समझते हैं; और जानते हैं कि पुरुष और स्त्री अपने गुण कर्म स्वभाव से भिन्न हैं। एक मानसिक भावों की पवित्रता में, सहानुभूति में, नरमी में प्रसिद्ध है; दूसरा बल में, बुद्धि में और साहस में उच्च है। अफ़लातूं ने पुरुष और स्त्री को केवल मात्र सन्तानोत्पादक यंत्र मान लिया है। उस ने यह नहीं देखा कि गृहस्थीय जीवन मनुष्यों में वह गुण उत्पन्न करता है जो अफ़लातूं के प्रजातन्त्र-राज्य में असंभव है। जैसे गोमा ने पीछे प्रकाशित किया, गृहस्थीय जीवन ही देश भक्ति की सर्वोत्तम शिक्षा देने वाला है। अफ़लातूं की प्रणाली सबल, बाहुवान पुरुष हमें दे सकती है, परन्तु मनुष्य के गुरुत्व की तुलना उसके पट्ठों के बल, और उस के भार से ही नहीं होनी चाहिये। यदि न्यूटन जैसा भद्दा बच्चा अफ़लातूं के प्रजातंत्र राज्य में जन्म लेता, तो उस के जीवित रहने का कोई अवसर न था। अन्य यूनानियों की भांति, अफ़लातूं के पास भी किसी मनुष्य के मूल्य की जांच करने के लिये एक ही तुला थी, और वह यह कि वह मनुष्य राज्य के लिये क्या कर सकता है। सत्य तुला यह है कि वह मनुष्य क्या है?

इस एक दोष ने जिस की नींव अफ़लातूं के तर्क में थी, उस सारे भवन को जो उसने निर्माण किया, निकृष्ट कर दिया। अफ़लातूं ने अन्तिम जीवन में स्वयं भी इसे अनुभव किया, और अपनी अन्तिम पुस्तक में लिखा कि तर्क धर्म के बिना मनुष्य जीवन पर पर्य्याप्त प्रभाव नहीं डाल सकता। तर्क में उसका विचार था कि जाति सब कुच्छ है, प्रत्येक कुछ नहीं; स्थूल जीवन में उसका विचार था कि राज्य अपने लिये जीता है और अधिकार रखता है; व्यक्ति के केवल कर्तव्य हैं, अधिकार नहीं। यह दोष था जिस का शोधन अफ़लातूं के जगत् प्रसिद्ध शिष्य अरस्तु ने किया।

चतुर्थाध्याय

अरस्तु

(१) अरस्तु का जीवन

अरस्तु जिसे सयाने यूनानियों में सब से सयाना कहा गया है, ३८५ पू० ख्० में स्टेगिरा (Stagira) में उत्पन्न हुआ। उसका पिता मकदूनिया के राजा का वैद्य था, और वैद्यों के प्राचीन वंश में से था। इस प्रकार अरस्तु की नाड़ियों में परीक्षण करने वालों का रक्त बहता था। ३६७ पू० ख्० में वह ऐथन्ज़ में आया और अफ़लातूं के शिष्यों में प्रविष्ट हुआ। बीस वर्ष के लग भग वह दोनों इकट्ठे रहे। ३४३ से ३४० पर्य्यन्त वह सिकन्दर का अध्यापक रहा। इस सम्बन्ध से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि उसने नाना प्रकार के जीव धारियों के पाठ की समग्री इकट्ठी की। ३३४ में उसने स्वतन्त्र तर्क की शिक्षा देना आरम्भ किया। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उस पर नास्तिकता और मकदूनिया का पक्ष लेने का अभियोग लगाया गया; और इस कारण से उसे ऐथन्ज़ छोड़ना पड़ा। इसी देश निकाले की अवस्था में ३२२ में उस का देहान्त हुआ।

(२) अफ़लातूं और अरस्तु

अफ़लातूं का काम आदर्शों की रचना था; अरस्तु का काम दृश्य जगत् के साथ मुकाबला करके इन आदर्शों के मूल्य की तुलना करना था। अफ़लातूं का विचार था कि विद्यमान आदर्श के अनुसार होना चाहिये; अरस्तु ने कहा कि आदर्श को अपनी उपयोग्यता लाभ करने के लिये विद्यमान के अनुकूल होने की आवश्यकता है। अफ़लातूं ने अस्तित्व, आदर्श जगत् में रक्खा था, और कहा था कि यह दृश्य जगत् केवल अनुकरण की पदवी

रखता है; अरस्तु ने व्यक्ति को भी अस्तित्व के सिंहासन पर बिठाया। यह बड़ा भेद था जो गुरु और शिष्य की शिक्षा में था; शेष सब भेद इस मूल भेद के आकार हैं।

(३) प्रधान तर्क

(क) दृश्य जगत्

प्रधान तर्क का मुख्य प्रश्न यह है कि यह दृश्य जगत् क्या है? और किस प्रकार से बना है? कईयों ने कहा था, सब कुछ यही है; कई कहते थे, यह कुछ भी नहीं। अरस्तु इन दोनों उत्तरों का निराकरण करता है और कहता है कि सत्य इन दोनों के मध्य में है। दृश्य जगत् सारे विश्व का एक आवश्यक भाग है। भिन्न २ घोड़े जो हमें दिखाई देते हैं, एक आदर्श घोड़े की, जो इन से परे आदर्श जगत् में रहता है, असम्पूर्ण नकलें नहीं, जैसा अफ़लातूं उन्हें बताता है, किन्तु आदर्श घोड़ा इन सब के भीतर विद्यमान है। इसका आकार आकार-रहित प्रकृति से मिलता है, और इस प्रकृति को घोड़ा बना देता है। यदि कुरसी का आकार अव्यक्त प्रकृति से मिलता, तो कुरसी बन जाती। अरस्तु अफ़लातूं की भान्ति जाति की हस्ती में विश्वास करता है, परन्तु जहां अफ़लातूं जाति को व्यक्तियों से बाहिर और उन से स्वतन्त्र कल्पना करता है, वहां अरस्तु उसे उन से मिला हुआ समझता है। साधारण दृष्टि से देखें, तो यह भेद अति साधारण प्रतीत होता है; परन्तु अपने फल की अपेक्षा यह एक बड़ा भेद है।

अफ़लातूं के विचार में दृश्य जगत् मिथ्या है, और इसकी अवस्था स्वप्न अथवा मृगतृष्णा की अवस्था है; अरस्तु की सम्मति में यद्यपि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, तथापि विज्ञान आकार की भान्ति अस्तित्व की आवश्यक भाग है। प्रकृति और विज्ञान आकार दोनों एक दूसरे से जुड़े हैं। यदि प्रकृति आकार से भिन्न कुछ नहीं, तो आकार भी प्रकृति से भिन्न कुछ नहीं। इस नियम में केवल एक अपवाद है और वह परमात्मा का है। परमात्मा शुद्ध विज्ञान स्वरूप है, और इस में प्रकृति का अङ्ग नहीं। प्रकृति और विज्ञान

आकार दोनों सत्य हैं ; परन्तु उनके मिलाप से जो विशेष वस्तु बनती है, उसकी प्रकाशना अधिकतर उस आकार पर निर्भर होती है, जिसने प्रकृति को एक विशेष रूप दिया है। लोहा कुञ्जी, चाकू, सूई अथवा इञ्जन बन जाता है, क्योंकि भिन्न २ आकार उस पर अपना२ ठप्पा लगा कर उसे भिन्न२ आकृतियें देते हैं। इस भेद के कारण कई बार आकार को सत् और प्रकृति को असत् कहा जाता है। यदि हम इन शब्दों को वर्ते, तो हम कह सकते हैं कि विशिष्ट वस्तुयें सत् और असत् (ब्रह्म और माया ?) के मिलाप से बनती हैं।

किसी विशिष्ट वस्तु के बनने के चार कारण होते हैं—उपादान, निमित्त, सङ्कल्प और अन्तिम। उदाहरण: एक घड़ा बनाया जाता है। इस का उपादान कारण वह मिट्टी है, जिस ने घड़े का रूप स्वीकार किया है ; निमित्त कारण कुम्हार का चक्र चलाना है ; सङ्कल्प वह आकार है जो घड़ा बनाने से पूर्व कुम्हार के मन में विद्यमान था ; और अन्तिम कारण वह अभिप्राय है जिस से प्रेरित होकर उस ने यह कार्य्य किया है। इन कारणों में प्रधान कारण दो हैं—उपादान और सङ्कल्प। वास्तव में सङ्कल्प ही निमित्त और अन्तिम कारण हैं।

विज्ञान आकारों में प्रधान परमात्मा है। साधारण शब्दों में कहना चाहिये कि परमात्मा प्रकृति की सहायता से सारे पदार्थों को बनाता है। इस प्रकार जगत् में तीन वस्तुयें हैं :—

(१) प्रकृति, जो क्रिया दे नहीं सक्ती, परन्तु क्रिया ग्रहण कर सक्ती है।

(२) विज्ञान आकार, जो क्रिया दे सके हैं, किन्तु आप क्रिया ग्रहण नहीं करते।

(३) व्यक्त (Nature), जिस में क्रिया देने और ग्रहण करने के दोनों गुण विद्यमान हैं।

(ख) परमात्मा और जीवात्मा

परमात्मा के सम्बन्ध में अफ़लातू का विचार है कि वह

जगत् के व्यवहारों में साक्षात् दख़ल देता है; अरस्तु कहता है कि परमात्मा जगत् से बाहिर अपने विचारों में मग्न रहता है। अरस्तु के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य परमात्मा का चिन्तन करता है; उसकी स्तुति भी करता है; परन्तु परमात्मा मनुष्य की ओर प्रेम का प्रकाश नहीं करता। कारण यह है कि परमात्मा केवल ज्ञान स्वरूप है; उस में राग द्वेष आदि भावों का प्रवेश नहीं; और इस लिये ज्ञान से ही उस से मिलाप हो सक्ता है।

जीवात्मा के सम्बन्ध में अरस्तु का विचार है कि इसके तीन भाग हैं:—एक केवल जीवन का, यह वनस्पतियों और पशु पक्षियों में भी पाया जाता है; दूसरा भाग इन्द्रियज्ञान का है, यह पशु पक्षियों में भी पाया जाता है; तीसरा भाग बुद्धि का है, जो केवल मनुष्यों को मिलता है। मनुष्य में आत्मा का भाग पिता से आता है।

अरस्तु की दृष्टि आगे और देखने वाली थी; उसकी बुद्धि सर्वतो मुखी थी। उसने अपने विचार तत्त्व ज्ञान पर्य्यन्त ही सीमित नहीं रक्खे, परन्तु न्याय, आचार, विज्ञान आदि विषयों पर भी लिखा है। न्याय में उसकी शिक्षा आज पर्य्यन्त प्रमाणिक है, और प्रत्येक मनुष्य जो पश्चिमी न्याय पढ़ता है, बहुत सीमा तक उस का शिष्य है। आचार शास्त्र में हमारे कई भाव उसके भावों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, परन्तु उसकी शिक्षा के कई भाग ऐसे भी हैं, जिनपर अभी तक कोई वृद्धि नहीं हुई। विज्ञान के सम्बन्ध में उसके विचार अब केवल ऐतिहासिक मूल्य रखते हैं।

(४) अरस्तु और विज्ञान

अफ़लातूं दृश्य जगत् को मिथ्या जानता है। इसलिये यदि उस ने इस की बाबत चिन्ता नहीं की, तो इस में आश्चर्य्य नहीं। आश्चर्य्य तो जब होता, यदि अपनी सम्मति रखते हुए वह इस जगत् के पाठ की चिन्ता करता। इस के विरुद्ध अरस्तु समझता था कि यह जगत् वास्तव में सत्य है। अरस्तु के लिये आवश्यक था कि वह इस का पाठ करे। सुकरात ने कहा था, बाहिर के चक्षु बन्द

करो और भीतर के चक्षु खोलो । अफ़लातूं ने इस पर आचरण किया, और जो कुछ कहा अपनी कल्पना की सहायता से कहा। अरस्तु ने बाहिर के चक्षु खोले और जो कुछ अपने समय के प्रकाश में देखना सम्भव था, देखा। अब कोई पुरुष भौतिक विज्ञान सीखने के लिये अरस्तु का पाठ करने की मूर्खता नहीं करता । अरस्तु ने निरीक्षण किया, परन्तु अपनी कल्पना को भी इतना प्रधान स्थान दिया कि उसका निरीक्षण निकम्मा हो गया। उन सब त्रुटियों को, जो उस के विज्ञान में पाई जाती हैं, देखते हुए भी हम उसकी प्रशंसा करते हैं। उस के दोष उसके समय के दोष थे; उस का पुरुषार्थ उस का अपना था।

जीव धारियों के पाठ के सम्बन्ध में लिखता हुआ अरस्तु कहता है, " उन वस्तुओं में भी जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को अच्छी नहीं लगतीं, प्रकृति उन पुरुषों को जो उन्हें समझने की योग्यता रखते हैं, एक अद्भुत आनन्द देती है। हमें बच्चों की भान्ति कुरूप से कुरूप पदार्थों के पाठ से भी भागना नहीं चाहिये । प्रकृति के प्रत्येक कार्य्य में कुछ न कुछ सराहने योग्य होता है । एक समय पर हिरेक्लिटस के मित्र एक भद्दे मकान में प्रविष्ट होने से झिजके; हिरेक्लिटस ने कहा, 'आगे बढ़ो, यहां भी देवताओं का स्थान है'। इसी भान्ति मैं कहता हूं कि प्रकृति के प्रत्येक कार्य्य में सौन्दर्य्य है और वह बुद्धि का प्रकाश करता है" ।

यह शब्द एक अफ़लातूं के मुख से नहीं निकल सकते थे।

(५) सामाजिक और राजनैतिक तर्क

सामाजिक और राजनैतिक तर्क में भी अफ़लातूं और अरस्तु की शिक्षा में जो भेद है, उसकी नींव में प्रत्येक और जाति के सम्बन्ध में इनकी सम्मतियां हैं। अफ़लातूं प्रत्येक को कुछ सार नहीं समझता; इस लिये जैसा हम ने देखा है, उस के आदर्श राज्य के मनुष्य राज्य के लिये जीते हैं; वह राज्य के लाभ के लिये पढ़ते हैं; इसी के लिये, जब आवश्यक हो, सन्तान उत्पत्ति करते हैं। राज्य के सम्बन्ध में इन का विचार यह है—" मेरी इच्छा नहीं, किन्तु तेरी इच्छा

पूर्ण हो " । प्रत्युत इन का आदर्श यह है कि इनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा ही न रहे। इसके विरुद्ध अरस्तु प्रत्येक का मूल्य समझता है। इस लिये वह आक्षेप करता है कि जो एकता का आदर्श अफ़लातूं हमारे सन्मुख रखता है, वह अच्छा आदर्श नहीं। उन्नति की नींव एकता पर नहीं, परन्तु नानत्व पर है। प्रत्येक मनुष्य का धर्म्म है कि जो योग्यता उस में है, उसे वृद्धि देवे। यदि फ़रज़ किया जावे कि एकता ही सर्वोत्तम आदर्श है, तो भी अफ़लातूं की प्रणाली दोष वाली है, क्योंकि:--

(१) स्त्रियों का सांझा होना असम्भव है। यदि प्रत्येक पुरुष सारी स्त्रियों को वर्त सके, तो बड़ी गड़ बड़ उत्पन्न हो जायगी; यदि ऐसा करना प्रत्येक पुरुष का अधिकार हो, परन्तु इस अधिकार के वर्तने की उसे आज्ञा न हो, तो इस से एकता नहीं, प्रत्युत परस्पर विरोध उत्पन्न होगा।

(२) रक्त सम्बन्धों को दृष्टि ओझल करना सृष्टि नियम को दृष्टि ओझल करना है। बच्चों का पालन पोषण जिस प्रकार माता अपने प्रेम के कारण कर सकी है, और कोई नहीं कर सक्ता। जो कार्य्य प्रत्येक का धर्म्म होता है, वह किसी का भी धर्म्म नहीं रहता।

(३) अफ़लातूं के प्रबन्ध के होने पर भी माता पिता सन्तान को पहिचान लेंगे, क्योंकि माता पिता और सन्तान में कई सादृश्य होते हैं।

(४) अफ़लातूं के प्रबन्ध में कई निकट सम्बन्धियों में ऐसे सम्बन्ध हो जायेंगे जो प्राकृत नियम के विरुद्ध हैं।

(५) धन दौलत को सांझा रखने की अवस्था में, प्रत्येक की स्वाभाविक इच्छा होगी कि वह घट से घट कमाये और अधिक से अधिक व्यय करे। परिग्रह का भाव मानुषी सृष्टि का स्वाभाविक अङ्ग है। इसके अतिरिक्त दान करना आदि कई अच्छे गुण हैं, जो अफ़लातूं के राज्य में सम्भव ही नहीं हो सकेंगे।

अफ़लातूं ने पशुओं के जीवन से शिक्षा ग्रहण करने की सम्मति दी थी; अरस्तु कहता है कि मनुष्य पशुओं से बढ़ कर है और

धर्म्माधर्म्म का भेद ही इस का चिन्ह है. इसे दृष्टि ओझल करना भूल है।

(६) अरस्तु का आदर्श राज्य

अरस्तु के अपने आदर्श राज्य में नगर वासी इकट्ठे भोजन खाते हैं, युवावस्था में सेना में काम करते हैं; इस के पश्चात् सिविल भाग में । परन्तु राज्य में सर्वोत्तम कार्य्य पठन पाठन और ज्ञान ध्यान है। नगर निवासियों की शिक्षा नियत की गई है, और यद्यपि उन्हें विवाह करने की आज्ञा है, राज्य उन के लिये निश्चिय करता है कि वह कितने बच्चे उत्पन्न करें । इन्हें आज्ञा नहीं कि दृढ़ और स्वस्थ बच्चों के बिना किसी बच्चे का पालन करें।

अन्तिम पद सूचित करता है कि अरस्तु प्रत्येक के पूरे मूल्य को अनुभव नहीं करता : उस के आदर्श राज्य में प्रत्येक मनुष्य जो उत्पन्न होता है, जीता रहने का भी अधिकार नहीं रखता। केवल इस दोष के लिये कि उसका शरीर निर्बल अथवा रोगी है, उसे मृत्यु के मुख में धकेला जाता है। अफ़लातूं की भान्ति अरस्तु भी दासत्व को प्राकृत ख्याल करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु प्रत्येक का मूल्य अफ़लातूं से अधिक अनुभव करता है; परन्तु उस की सम्मति में भी, प्रत्येक, मनुष्य होने की पदवी से, अधिकारों का स्वामि नहीं। यह बड़ा दोष, जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, पीछे त्याग वादियों (Stoics) ने दूर किया।

(७) आचारशास्त्र

आचार शास्त्र के सम्बन्ध में भी अरस्तु और अफ़लातूं की शिक्षा में भेद है। अफ़लातूं की भान्ति अरस्तु मानता है कि मनुष्य के आत्मा में एक भाग नाशवान् है और दूसरा अमर ; अमर भाग बुद्धि है, और व्यापक है । अफ़लातूं अपने सिद्धान्तों के अनुसार यही कह सकता था कि अमर भाग की वृद्धि मनुष्य जीवन का आदर्श है। अरस्तु भी ज्ञान और विचार को सर्वोत्तम कार्य्य समझता है, परन्तु वह मानुषी प्रकृति के दूसरे भागों के अधिकार को भी स्वीकार करता है।

अफ़लातूं भोगों से भागना चाहता है; अरस्तु संयम से भोगों को भोगने की शिक्षा देता है। अरस्तु का तर्क प्रायः संयम का तर्क है, परन्तु आचार में तो विशेष करके संयम उसका आदर्श है। एक अत्यन्त की ओर जाना और दूसरी अत्यन्त की ओर जाना दोनों बुरे हैं; अच्छा मार्ग यह है कि मनुष्य मध्य में रहे। परन्तु यह मध्य स्थान सारे मनुष्यों के लिये एक नहीं। जो कुछ एक पुरुष के लिये संयम है, वह सम्भव है दूसरे के लिये अधिकता और तीसरे के लिये न्यूनता हो। उदाहरणः-

जो पुरुष बिना सोचे भय के मुंह में जा पड़ता है, वह मूर्ख साहसी है; जो पुरुष भय के निकट आने से भी कांपने लगता है, वह कायर है; इन दोनों अत्यन्तों के मध्य में धीर पुरुष समझ सोच कर भय का सामना करता है।

जो पुरुष धन का नाश करता है, वह अतिव्ययी है; जो पुरुष बिलकुल व्यय नहीं करता, वह कञ्जूस है; उचित व्यय करने वाला वह है जो इन दोनों अत्यन्तों के मध्य में रहता है।

एक पुरुष दूसरों की चापलूसी करता है; दूसरा अनावश्यक दुर्वचन बोलता है; भला पुरुष विनय के नियमों पर आचरण करता है, परन्तु सीधा खड़ा होना भी जानता है।

आचार के सम्बन्ध में अरस्तु की शिक्षा सर्व साधारण को मार्ग दिखा सकती है, परन्तु हम इसे तर्क के तौर पर स्वीकार नहीं कर सकते। कई गुण ऐसे हैं, जिन में अत्यन्त हो ही नहीं सकता; जैसा कि परमात्मा के प्रेम में, धर्म्म में। इसके अतिरिक्त आदर्श का महत्व इस में है कि वह सदा हमारी दृष्टि से आगे रहे, न कि हमारे पाओं तले आजावे। आचारादर्श का अत्यन्त होना इस के शासन का रहस्य है। वास्तव में अरस्तु ने दो भिन्न नियमों को अपने संयम में मिलाने का यत्न किया है-एक यह कि हम किसी इच्छा के वश में न होजायें; दूसरे यह कि हमारे जीवन का कोई भाग दूसरे भागों को कुचल न सके, प्रत्युत प्रत्येक भाग की वृद्धि हो। इस यत्न में वह कृत कार्य्य नहीं हुआ।

(८) अरस्तु और अफ़लातूं में एकता और भेद

अफ़लातूं और अरस्तु की शिक्षा में हम ने बहुत से भेद देखे हैं। हर एक भेद की नींव एकता पर है।

दोनों के विचार में विज्ञानाकार स्वतंत्र हस्ती रखते हैं; किन्तु जहां अफ़लातूं के तर्क में यह व्यक्तियों से बाहिर हैं; वहां अरस्तु की सम्मति में यह उन पदार्थों के अन्दर हैं, और उन्हें उन की जाति देते हैं।

दोनों परमात्मा की हस्ती में विश्वास करते हैं; परन्तु जहां अफ़लातूं की सम्मति में परमात्मा इस सृष्टि के काम में दख़ल देता है, वहां अरस्तु उसे अपने ध्यान में मग्न समझता है।

दोनों जीवात्मा में ज्ञान शक्ति को कामनाओं से उच्च पदवी देते हैं; परन्तु जहां अफ़लातूं कामानाओं को सर्वथा त्यागने के योग्य बताता है, वहां अरस्तु कामनाओं को भी मूल्य की चीज़ समझता है।

दोनों प्रकृति को अनादि मानते हैं; परन्तु जहां अफ़लातूं उस की पृथक् हस्ती की सम्भावना में विश्वास करता है, वहां अरस्तु उसे सर्वदा आत्मा से मिला हुआ समझता है।

दोनों राज्य के अधिकारों को सब से बड़े अधिकार ख़याल करते हैं; परन्तु जहां अफ़लातूं राज्य की भलाई में और किसी अधिकार की परवाह नहीं करता, वहां अरस्तु नगर वासियों के अधिकारों को स्वीकार करता है, यद्यपि वह भी न तो हर एक मनुष्य को ऐसे अधिकार देता है, और न ही अधिकारों के स्वामियों को पूरी स्वतंत्रता देता है।

दोनों मानसिक विचार को उत्तम क्रिया समझते हैं; परन्तु जहां अफ़लातूं बाह्य जगत् की ओर से नेत्र बन्द करता है, वहां अरस्तु निरीक्षण करता है, और विज्ञान की नींव रखता है।

जब हम अफ़लातूं और अरस्तु की बाबत पढ़ते हैं, तो हमें अवश्य उस त्रयमूर्ति का ध्यान आता है, जिसे उत्पन्न करके यूनान ने सदा के लिये गौरव प्राप्त कर लिया। सुकरात का शिष्य

अफ़लातूं और अफ़लातूं का शिष्य अरस्तु। ऐसे तीन पुरुष इकट्ठे और कहां मिल सकते हैं! सुकरात से पूर्व यूनान का तर्क आरम्भिक अवस्था में था: अरस्तु के पीछे गिरावट के चिन्ह साफ़ दिखाई देते हैं। इन लोगों की संगत में हम पहाड़ों के शिखर पर हैं; सुकरात से पूर्व तार्किकों ने हमें पहाड़ के शिखर पर पहुंचाया था; अरस्तु के पीछे हम सड़े हुए मैदानों की ओर उतरना अरम्भ करते हैं।



पंचम अध्याय

अरस्तु से पीछे

(१) अध्याय का विषय

अफ़लातूं और अरस्तु के हाथों में यूनानी तर्क आकाश में उड़ता था; अरस्तु के पीछे हम उसे पृथिवी पर रींगता देखते हैं। अरस्तु के पीछे आने वाले तत्त्व दर्शियों के लिये अपने पूर्वजों का तर्क समझना ही कठिन होगया, किसी प्रकार की उन्नति तो वह क्या कर सकते थे ? अरस्तु ने प्राकृत विज्ञान की नींव रक्खी थी; अरस्तु के देश निकाले के साथ वह भी यूनान से निकल गया। शुद्ध तर्क के सम्बन्ध में ऐथन्ज़ में विचार होता रहा, परन्तु पुरानी स्वतंत्रता और प्रफुल्लता जाती रही। इस बड़े परिवर्तन का एक कारण राजनैतिक परिवर्तन था। यूनान की रियास्तें अपनी २ भलाई के विचार में सारे देश की भलाई की ओर से बेपरवाह थीं। केवल यही नहीं, वरन् उनके आपस के झगड़ों ने दूसरों को उद्यत किया था, कि यूनान की स्वतंत्रता को छीन लें। सिकन्दर और उसकी सेना ने देश की स्वतंत्रता को पादलित कर दिया। वह ज्ञान ध्यान जो स्वतंत्रता के समय में सम्भव था, अब असम्भव होगया। अब इस बात की आवश्यकता थी कि जिस अवस्था में विधि ने उन्हें रख दिया है, उसके अनुसार अपना जीवन बना लें, और शिर आई को शान्ति से सहने के लिये बल प्राप्त करें। अब सब से आवश्यक प्रश्न जीवन को अधिक से अधिक दुःख रहित बनाने का था।

तर्क के दो सम्प्रदाय स्थापित हुए। दोनों की सम्मति में तर्क का अन्तिम उद्देश मन की शान्ति प्राप्त करना और जीवन को सुखी बनाना था; परन्तु इस उद्देश की पूर्ति के लिये जो साधन उन्हों ने

बताय, वह भिन्न थे। ज़यनो के सम्प्रदाय ने कहा, 'वास्तविक सुख धर्म्म परायण होने में है; धर्म्म अपना फल आप है; हमें धर्म्म पर आरूढ़ रहना चाहिये, और इस बात का ध्यान ही नहीं करना चाहिये कि यह हमारे लिये लाभकारी होगा अथवा हानि कारक'। ऐपीक्युरस (Epicurus) ने कहा, 'जीवन से जितना आनन्द लेना सम्भव है, लेने का यत्न करना चाहिये; धर्म्म पर आचरण करना अच्छा है, परन्तु इस लिये कि इस से सुख प्राप्त होता है; जीवन का अन्तिम उद्देश सुख है, धर्म्म एक साधन है'। यह दोनों मन्तव्य सुकरात के पीछे अति त्यागवादियों और अति सुख वादियों ने भी प्रगट किये थे। जैसा हम देखेंगे, ज़यनो का सम्प्रदाय अति त्यागवाद ही परिवर्तित रूप में था, और ऐपीक्युरस का सिद्धान्त अति सुखवाद का नया आकार था।

राजनैतिक अवस्था ने जहां यूनान की स्वतंत्रता को नष्ट किया, वहां यूनानियों को दूसरी जातियों से मिला भी दिया। विशेष कर के जब पीछे रोमा का राज्य हुआ, तो भिन्न २ जातियों के लोग आपस में मिले। विचारों का अदल बदल हुआ, और प्रत्येक सम्प्रदाय के उज्वल और मलिन मन्तव्य प्रकाश में आये। इसका परिणाम एक नवीन सम्प्रदाय था, जिस में पहिले सम्प्रदायों की अच्छी शिक्षायें एकत्र की गईं। यह सार संग्रह वाद (Eclecticism) था। दूसरी ओर कई लोगों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि प्रत्येक सम्प्रदाय में दोष हैं और इस लिये मनुष्य को सत्यज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। सन्देह वाद (Scepticism) फिर उठा। सन्देहवाद ने ब्रह्म साक्षात्कारवाद (Neo-Platonism) को जन्म दिया। मनुष्य के आत्मा में ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा विद्यमान है; यदि, जैसा सन्देहवादी कहते थे, मनुष्य अपनी शक्ति से सत्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, तो परमात्मा स्वयम इस ज्ञान का प्रकाश करता है। यह प्रकाश भक्तों और योगियों के हृदयों में होता है। इस प्रकार तर्क का स्थान धर्म्म और ईश्वरीय ज्ञान ने ले लिया।

इस अध्याय में हम संक्षेप से निम्न लिखित सम्प्रदायों के विषय में लिखेंगे:—

(क) त्यागवाद,
(ख) सुखवाद,
(ग) सार संग्रह वाद,
(घ) सन्देह वाद,
(ङ) ब्रह्म साक्षात्कार वाद ।

(२) त्यागवाद (Stoicism)

इस सम्प्रदाय की नींव ज़यनो ने रक्खी । तर्क और धर्म्म के सम्बन्ध में सम्प्रदाय के सिद्धान्त नियत नहीं, परन्तु जो बात सारे त्याग वादियों को एक सम्प्रदाय में सम्बद्ध करती है ; वह आचार सम्बन्धी नियम हैं, और इस से भी अधिक जीवन की कठिनाइयों के मुकाबले में एक ही प्रकार की मानसिक वृत्ति है ।

तर्क के तीन भाग हैं—न्याय,विज्ञान और आचार शास्त्र । विज्ञान का उद्देश उस नियम का खोज करना है,जो जगत् में राज्य करता है । वही नियम मनुष्य के जीवन में भी राज्य करता है । विज्ञान और आचार शास्त्र में गहरा सम्बन्ध है । तर्क का अन्तिम उद्देश्य मनुष्य को भद्र बनाना है,और इस लिये विज्ञान की अपेक्षा न्याय न्यून पद रखता है । न्याय की सहायता से हम वैज्ञानिक नियमानुसार एक व्यवस्था बना सकते हैं, यही इसका मूल्य है ।

न्याय के सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त यह है, कि जो कुछ इन्द्रियों से प्रत्यक्ष जाना जाता है, वही सत्यज्ञान की नींव है । विज्ञान के सम्बन्ध में इन का विचार है कि सृष्टि का उपादान कारण निराकार प्रकृति है । परमात्मा इस प्रकृति को आकार देकर विशेष पदार्थ बनाता है । परमात्मा न केवल सृष्टि को बनाता है, वरन् इसे नियमानुसार रखता भी है । विपक्षी कहेगा कि दुःख और पाप की स्थिति परमात्मा के नियम पर एक कलंक है। त्यागवादी उत्तर देता है, कि दुःख की स्थिति उस के लिये है, जो दुःख का अनुभव करे । धर्म्मात्मा पुरुष पर कोई विपत्ति नहीं आसक्ती, क्योंकि ऐसा पुरुष कभी दुःख को अनुभव ही नहीं करता । साधारण दृष्टि से पाप और दुःख की स्थिति त्रुटि प्रतीत होती है, परन्तु विचार करने से पता लगेगा कि पाप की स्थिति धर्म्म

को अधिक उज्वल करती है। त्रुटि भागों में है; यदि समग्र को देखा जाये, तो उस में त्रुटि नहीं। जो शब्द अपने आप में शोर प्रतीत होता है, वह दूसरों के साथ मिल कर अद्भुत राग उत्पन्न करता है।

जीवात्मा प्राकृत है, और शरीर के नाश होने पर उसका भी नाश होजाता है। हां, भले पुरुषों के आत्मा मृत्यु के पीछे भी कुछ समय के लिये जीते रहते हैं। परन्तु परमात्मा के अतिरिक्त कोई आत्मा भी सर्वथा अमर नहीं। जब विश्वाग्नि सारे संसार को भस्म करता है, तो केवल परमात्मा की स्थिति रहती है। फिर आकार रहित प्रकृति से सृष्टि बनती है, और उस के पीछे फिर प्रलय आता है। यह क्रम सदा जारी रहता है। कई त्यागवादियों का विचार है, कि एक सृष्टि अपने से पहिली सृष्टि की सर्वांशों में नकल होती है। वर्तमान सृष्टि से पीछे आने वाली सृष्टि में भी एक सुकरात होगा, उस पर दोष लगाया जावे गा, वह अपनी रक्षा के लिये वक्तृता करेगा, और विष से उसका अन्त किया जावेगा। कई कहते हैं कि दो सृष्टियों में साधारण समता होती है, परन्तु एक सृष्टि दूसरी की सर्वांशों में नकल नहीं होती। जैसा हम कह चुके हैं, इन विषयों में कोई नियत सिद्धान्त त्यागवाद का आवश्यक अंग नहीं था; इन के सम्बन्ध में भिन्न २ विचार रखते हुए भी दो पुरुष त्यागवादी हो सकते थे।

इस सम्प्रदाय के तर्क में मध्य स्थान

आचार शास्त्र

का है। मुख्य नियम यह है कि धर्म्म को धर्म्म के लिये पालन करना चाहिये। सुखों का प्राप्त करना जीवन का उद्देश नहीं। धर्म्म का तत्त्व यह है कि मनुष्य अपने आत्मा को स्वतन्त्र रक्खे। जीवन एक संग्राम है; पग २ पर आसुरी शक्तियां दैवी शक्तियों से युद्ध करती हैं। इस संग्राम में आसुरी भाव कभी आपत्तियों का रूप धारण करते हैं, कभी विषयों का। आदर्श आचार इन दो शब्दों में आजाता है–धीर बनो और संयम में रहो।

त्यागवाद और प्राण त्याग

त्यागवादियों के सिद्धान्त में जीवन का मुख्य उद्देश धर्म्म का पालन करना है। यदि हम देखते हैं कि हम इस उद्देश की पूर्ति में असमर्थ्य हो गये हैं, तो यह जीवन का अन्त कर देने के लिये पर्य्याप्त कारण है। सम्प्रदाय के प्रवर्तक ज़यनो ने सौ वर्ष की आयु के निकट प्राण त्याग किया, क्योंकि उसकी उंगली पर चोट आगई थी। केटो ने प्रजा तन्त्र राज्य के गिर जाने पर आत्म हत्या की।

सैनेका कहता है, 'यदि हमें भय हो कि हम अपना कार्य्य निर्विघ्नता से नहीं कर सकेंगे, या हमारी शान्ति में विघ्न पड़ेगा, तो हम प्राण त्याग कर सक्ते हैं'। एक लेखक की सम्मति में त्याग वादी पांच अवस्थाओं में प्राण त्याग की आज्ञा देते हैं:—

(१) जब देश सेवा में इसकी आवश्यकता हो।

(२) जब हम देखें कि जीवित रहने की दशा में हमें मन्द कर्म्म करने पड़ेंगे।

(३) जब हम अत्यन्त कङ्गाल होजायें।

(४) जब हम किसी असाध्य जीर्ण रोग में ग्रस्त हो जायें।

(५) जब उन्माद (पागलपन) वा मानसिक निर्बलता का आरम्भ हो।

त्यागवाद और अति त्यागवाद

जैसा हम देख चुके हैं, इसी प्रकार के भाव अति त्यागवादियों ने भी प्रकाशित किये थे। परन्तु इस समानता के साथ इन दोनों सम्प्रदायों में भेद भी था। अति त्यागवाद का संस्थापक, ऐन्टिस्थिनिज़, पागल हुआ २ सुकरात था; अर्थात् सुकरात की शिक्षा के एक भाग को उस ने असाधारण महत्व दिया था। ज़यनो और उस के शिष्यों में इस प्रकार का पागलपन न था; वह अत्याधिकता के प्रिय न थे। जहां अति त्यागवादी हर प्रकार के विकारों को नष्ट

करना चाहते थे, वहां त्यागवादी केवल बुरे भावों के विरुद्ध युद्ध करते थे। अति त्यागवादियों की तरह त्यागवादियों का आदर्श भी प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत करना था; परन्तु जहां अति त्यागवादी हर प्रकार की सभ्यता से परे भागना और पशुवत जीवन व्यतीत करना चाहते थे, वहां त्यागवादी समझते थे कि एक ही बुद्धि मानुषी जीवन और प्रकृति में काम करती है, और इस लिये प्रकृति के अनुसार जीने से अभिप्राय अपनी उत्तम प्रकृति अर्थात् बुद्धि की आज्ञानुसार जीना है। अति त्यागवादी सारी संस्थाओं और व्यवस्थाओं से जो सभ्यता का फल हैं, घृणा करते थे; इस के विरुद्ध त्यागवादी इन वस्तुओं को सन्मान के योग्य समझते थे। अति त्यागवादी अव्यवहारिक ज्ञान को निकम्मा जानते थे; इस के विरुद्ध त्यागवादी इसे काम की वस्तु समझते थे, यद्यपि उनकी सम्मति में भी इस का मूल्य जीवन को सुखी बनाने से ही है। सार यह कि दोनों सम्प्रदाय एक ही थे; भेद केवल इतना था कि त्यागवाद अतित्व से मुक्त था।

(३) सुखवाद (Epicureanism)

ज़यनो की तरह ऐपीक्युरस का भी विचार है, कि तर्क का मुख्य उद्देश जीवन को अच्छा बनाना है, और न्याय और विज्ञान का मूल्य यही है कि इनकी सहायता से हम अच्छा जीवन व्यतीत कर सकते हैं। परन्तु जहां ज़यनो अच्छे जीवन को धार्मिक जीवन के अर्थों में समझता है, वहां ऐपीक्युरस की सम्मति में जीवन का आदर्श भोगों का भोगना है। धर्म्म काम की वस्तु है, किन्तु इसी लिये कि यह सुख का साधन है। अपने आप में एक ही पदार्थ ढूंडने के योग्य है, और वह सुख है। जिस प्रकार ज़यनो का सम्प्रदाय अति त्यागवाद का नवीन रूप था, जिस में अतित्व विद्यमान न था, उसी प्रकार ऐपीक्युरस का सम्प्रदाय पुराने अति सुखवाद का नया रूप था। अति सुखवादी भोगों का भोगना जीवन का आदर्श समझते थे, और उनकी दृष्टि वर्तमान क्षण से परे नहीं जाती थी। उस बुद्धि को जो आगे और पीछे देखती है,

वह मूर्खत्व समझते थे। इस के विरुद्ध ऐपीक्युरस की दृष्टि सारे जीवन के सुख पर है। उसकी शिक्षा विषयासक्त होने की शिक्षा नहीं, क्योंकि विषयों का दास होना हमें भविष्यत में सुख भोगने के अयोग्य बना देता है। समग्र जीवन के सुख के लिये संयम आवश्यक है। ज्ञानी पुरुष वर्तमान सुखों का त्याग करता है, यदि ऐसे त्याग से उसे भविष्यत में अधिक सुख मिल सकता है। यही नहीं; वह वर्तमान दुःखों को भी स्वीकार कर लेता है, ताकि भविष्यत में सुख भोग सके।

तर्क के इतिहास में ऐपीक्युरस का नाम सब से अधिक कलङ्कित है। 'खाओ, पियो, मौज करो', इसकी शिक्षा का सार समझा जाता है। परन्तु वास्तविक यह है कि वह अपनी शिक्षा में त्यागवादियों के बहुत निकट आजाता है। संयम पर ज़ोर देता है, और कहता है कि मनुष्य के लिये, जितना सम्भव हो, अपनी आवश्यकताओं का घटाना उचित है। "यदि मनुष्य की बुद्धि तीव्र है, और उस के पास खाने पीने के लिये रोटी और पानी है, तो उसे देवताओं की अवस्था पर स्पृहा करने की आवश्यकता नहीं। आनन्द की उपलब्धी के लिये आवश्यक है कि मनुष्य बहुत से टंटों से मुक्त रहे। यदि अपनी रक्षा के लिये राजनैतिक काम करने की आवश्यकता हो, तो कर ले, अन्यथा इस से परे रहना ही उचित है। गृहस्थ का मार्ग भी कांटों से ढका हुआ है। अच्छे मित्र जीवन को सुखी बनाने के लिये एक बड़ा साधन हैं। यदि एक पुरुष के अच्छे मित्र हैं, तो उसका धनाढ्य वा दरिद्र होना बहुत भेद नहीं करता। हम क्या खाते और क्या पीते हैं? इस से अधिक सोचने के योग्य यह बात है कि हम किस के साथ खाते और पीते हैं?"

सुखवादी आचार शास्त्र को तर्क का मुख्य भाग समझते थे, परन्तु न्याय और विज्ञान का भी आदर करते थे। न्याय के सम्बन्ध में ऐपीक्युरस का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष सत्य ज्ञान की नींव है। विपक्षी कहेगा कि एक ही वस्तु को मैं एक तरह देखता हूं, मेरा साथी दूसरी तरह देखता है। ऐपीक्युरस का उत्तर है कि प्रत्येक

पदार्थ के अनेक चित्र होते हैं। भिन्न २ पुरुष भिन्न २ चित्रों को देखते हैं, और इस लिये उन की सम्मतियों में भेद होता है। ऐपीक्युरस की सन्तुष्टि इस उत्तर से होजाती है, और वह यह नहीं देखता कि प्रश्न तो वैसे का वैसा बना रहता है। इन चित्रों के तथ्य की तुलना के लिये एक तुलना करने वाले पदार्थ की आवश्यकता है, और यह पदार्थ ऐपीक्युरस के सिद्धान्त में वर्तमान नहीं।

सृष्टि के सम्बन्ध में ऐपीक्युरस का विचार है कि देवी देवताओं की कथाओं ने लोगों को भयभीत कर दिया है, और उन के सुख में विघ्न डाला है। सृष्टि देवताओं या एक देव की बनाई हुई नहीं, न ही किसी चैतन्य शक्ति के राज्य की साक्षी है। यह अचेतन तत्त्वों के मेल का परिणाम है। प्रकृति और आकाश ही दो सत्य पदार्थ हैं। मनुष्य का आत्मा भी प्राकृत है और सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ है। शरीर की मृत्यु के समय यह भी तत्त्वों में मिल जाता है। देवता भी प्राकृत हैं; देवताओं और मनुष्यों में भेद यह है कि देवता अधिक सूक्ष्म हैं और आकाश में उन का निवास है। मनुष्यों की तरह उन में भी लिङ्ग का भेद है। उनका जीवन भी अन्न पर निर्भर है और सामाजिक सम्बन्ध उन के लिये भी आवश्यक हैं।

(४) सन्देहवाद

सुकरात से पूर्व तत्त्ववादियों के भेदों ने सन्देवाद को जन्म दिया था। उस समय यूनान की तार्किक बुद्धि उन्नत हो रही थी। अब जब कि अरस्तु के पश्चात् तत्त्वदर्शियों के भेदों ने सन्देहवाद को जन्म दिया, तो इस का कारण यह था कि यूनान की तार्किक बुद्धि ने अपने आप को नये विचारों के अयोग्य जान कर ज्ञान की सम्भावना से ही इन्कार कर दिया। इस समय के सन्देहवाद का प्रवर्तक पिरहो (Pyrrho) था। उसकी सम्मति में किसी बात की बाबत सत्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक नियम का विरुद्ध भी सिद्ध किया जा सकता है। इस अवस्था में बुद्धिमान् पुरुष के लिये यही उचित है, कि किसी बात की बाबत भी दृढ

निश्चय से प्रतिज्ञा न करें। पिरहो के समय में त्यागवादी सत्य ज्ञान की सम्भावना की शिक्षा देते थे, और उन का सिद्धान्त था कि प्रत्यक्ष सत्यज्ञान का प्रमाण है, और उस की साक्षी को स्वीकार न करना मनुष्यात्मा के वश में ही नहीं। अफ़लातूं के सम्प्रदाय और त्यागवाद में इस समय विवाद था ; इस लिये सन्देहवाद को इस सम्प्रदाय में आदर सत्कार से स्वीकार किया गया।

एक लेखक (Enesidemus) ने उन आक्षेपों को जो सन्देहवादी ज्ञान की सम्भावना के विषय में करते हैं, इकट्ठा किया है। वह कहता है कि ज्ञान ज्ञानी और उस के विषय का सम्बन्ध है। यदि हम ज्ञानी की बाबत विचार करें, तो हम देखते हैं कि:--

(१) एक ही पदार्थ भिन्न २ जातियों के पशुओं के आत्माओं में भिन्न २ अनुभव उत्पन्न करता है।

(२) एक ही जाति की भिन्न २ व्यक्तियों की हालत में भी यह अनुभव भिन्न २ होते हैं।

(३) एक पुरुष की हालत में भी भिन्न २ ज्ञानेन्द्रिय एक ही अनुभव नहीं देते। (एक फल जो देखने में अति सुन्दर प्रतीत होता है, बुरे स्वाद वाला हो सकता है।)

(४) हमारे प्रत्यक्ष हमारी वर्तमान दशा, स्वास्थ्य, रोग, थकान आदि पर निर्भर होते हैं। हमारे पास कोई अनुमायक (मय्यार) नहीं, जिसकी सहायता से हम एक विशेष दशा को परिमाणिक दशा कह सकें।

अब यदि ज्ञान के विषय की बाबत सोचें, तो देखते हैं कि:--

(५) एक ही पदार्थ भिन्न २ अवस्थाओं में भिन्न २ अनुभव उत्पन्न करता है। (रेत का एक परमाणु कठोर है, परन्तु रेत का ढेर नर्म है।)

(६) पदार्थों का अन्तर और स्थान हमारे ज्ञान पर प्रभाव डालते हैं। (एक टीला जो दूर से साफ़ प्रतीत होता है, निकट आने पर ऊंचा नीचा प्रतीत होता है।)

(७) जो अनुभव हमारे आत्मा में पदार्थ उत्पन्न करते हैं, उनका निर्भर इस बात पर भी होता है कि हम इन पदार्थों को बहुधा देखते रहते हैं या नहीं। (प्रसिद्ध कथा के अनुसार राजा की कन्या कुछ दिन खटीकों के घर रह कर कहती है, कि उस ने घर को दुर्गन्ध रहित कर दिया है।)

(८) इस ज्ञान का निर्भर पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध पर भी होता है। (पेड़ा खाने के पश्चात् शर्बत फीका प्रतीत होता है।)

(९) हम पदार्थों को किसी न किसी मध्यस्थ में से देखते हैं, और यह नहीं कह सकते कि उस का कुछ प्रभाव पड़ता है वा नहीं।

(१०) सत्यासत्य, धर्म्माधर्म्म के विषय में निश्चय करते हुए, देश और जाति की मर्य्यादा और समाज के विचार भी हमारे आत्मा पर प्रभाव डालते हैं।

यह दोष प्रत्यक्ष में हैं। अनुमान प्रत्यक्ष पर निर्भर है, इस लिये वह भी कच्ची नींव पर है। इस के अतिरिक्त मनुष्यों की मतियों में इतना भेद होता है। हर एक प्रतिज्ञा को सिद्ध करने की आवश्यकता है, और इस क्रम का कहीं अन्त नहीं होता।

कई सन्देहवादी ज्ञान की सम्भावना से इन्कार करते थे; कई ऐसा इन्कार करने का साहस भी नहीं कर सकते थे। सुकरात ने कहा था, 'मैं केवल एक बात जानता हूं, और वह यह है कि मैं कुछ नहीं जानता'। सन्देहवादी आर्सेयस्सीलास कहता है, 'मैं इतना भी निस्सन्देह नहीं जानता'।

(५) सार संग्रहवाद

अफ़लातूं के सम्प्रदाय वाले, अरस्तु के शिष्य और त्यागवादी चिरकाल से शास्त्रार्थ कर रहे थे, और एक दूसरे को विश्वास दिलाने में कृतकार्य्य नहीं हुए। विचारों के भिन्नत्व और विरोध ने सन्देहवाद को फिर उत्पन्न कर दिया था। ईसाई मत एक नई शक्ति उठ खड़ी हुई थी। तर्क के भिन्न २ सम्प्रदायों ने इस सांझे शत्रु से युद्ध करने के लिये आपस में मेल करने की चेष्टा की। अब भेदों

पर नहीं,किन्तु सादृश्यों पर ज़ोर दिया गया। आरम्भ में यत्न किया गया कि ईसाई मत से भी मेल किया जावे। तार्किक मूसा और ईसा को मानने के लिये तय्यार थे, यदि ईसाई लोग अफ़लातूं और अरस्तु को प्रमाण मान लें। ईसाईयों ने यह स्वीकार नहीं किया। उन के विचार में सारा सत्यज्ञान उन की धर्म्म पुस्तक अञ्जील में विद्यमान था, और यदि अफ़लातूं में कुछ सत्य था, तो वह भी अञ्जील से लिया गया था। ईसाई तर्क पर ज़ोर नहीं देते थे, वरंच उनके लिये सब से बड़ा प्रमाण शब्द प्रमाण था। तार्किकों ने ईसाईयों के साथ उनके अपने शस्त्रों से युद्ध करने के लिये आवश्यक समझा कि वह भी शब्द प्रमाण को वर्ताव में लावें: यह शब्द प्रमाण अफ़लातूं और अरस्तु का था। अब तार्किकों का काम अधिकतर यह हो गया कि यत्न से अपने पूर्वजों की पुस्तकों का पाठ करें,उन पर भाष्य लिखें और प्रत्येक अवसर पर उन में से प्रमाण देने के योग्य हों।

यह समय यूनान के तर्क में सब से अधिक निर्बलता का समय था। अन्तिम यत्न जो यूनान के तर्क ने परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में यथाक्रम विचार करने का किया, वह

(६) ब्रह्म साक्षात्कारवाद

के रूप में प्रकाशित हुआ। सन्देहवादियों ने कहा था, 'हम सत्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ऐसा ज्ञान देने में असमर्थ हैं'। प्लाटीनस (Plotinus) ने कहा, 'बुद्धि सत्य पदार्थों के जानने का साधन ही नहीं है; यह हमें एक सीमा तक ले जाती है, उस के पीछे हमें इसे त्याग करना पड़ता है'। प्लाटीनस का विचार है, कि वास्तव में परमात्मा ही अकेला सत्य पदार्थ है; वही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है; जिस प्रकार दीपक से प्रकाश निकलता है, किन्तु दीपक की ज्योति घट नहीं जाती, उसी प्रकार सृष्टि परमात्मा से उपजती है, परन्तु इस से परमात्मा घट नहीं जाता। सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा के विच्छेद से नहीं, किन्तु उसके विस्तार से होती है।

इस विस्तार में प्रथम बुद्धि (Intelligence) उत्पन्न होती है। ज्ञानी के लिए ज्ञान और ज्ञान के विषय की आवश्यकता है। बुद्धि की उत्पत्ति से पहिले परमात्मा अकेला होता है; बुद्धि की उत्पत्ति से एकता का स्थान द्वैत लेता है। बुद्धि आत्मा (Soul) को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार परमात्मा की पदवी बुद्धि से उच्च है, उसी प्रकार बुद्धि की पदवी आत्मा से उच्च है। आत्मा अनुमान से ज्ञान प्राप्त करता है, बुद्धि साक्षात् दर्शन करती है। आत्मा के दो काम हैं—(१) अपने भीतर देखना और विचार करना, (२) अपना विकाश करना। इस विकाश का परिणाम शरीर (प्रकृति) है, जो आत्मा से निकृष्ट है। प्राकृत पदार्थों में जो सत्य है वह आकार (Form) से आता है। परमात्मा एक है, प्राकृत पदार्थ अनेक हैं। सच्ची हस्ती केवल परमात्मा की है; प्रकृति लगभग अभाव है। किन्तु प्रकृति सर्वथा अभाव भी नहीं, क्योंकि उसका अन्तिम स्रोत परमात्मा है*।

क्यों परमात्मा कैवल्य को त्याग बहुत रूपों को ग्रहण करता है? हम इसका उत्तर नहीं दे सकते; यह एक रहस्य है, जो मनुष्य की समझ में नहीं आसकता। हां, इतना कह सकते हैं कि सृष्टि उत्पत्ति एक गिरावट है। परमात्मा से बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से आत्मा, आत्मा से शरीर; यह उन्नति नहीं, वरंच अवन्नति है।

---

* प्लाटीनस प्रकृति से लगभग वही समझता है, जो नवीन तर्क में शोपनहाअर इच्छा अथवा हस्ती में आने की चेष्टा से समझता है। प्लाटीनस का विचार आर्य्य वर्त के तर्क में भी पाया जाता है। मैं ने Intelligence, Reason का उलथा बुद्धि और Soul का उलथा आत्मा किया है,परन्तु मैं अनुभव करता हूं कि एक देश की परिभाषा दूसरे देश के तार्किकों के विचारों को ठीक प्रगट नहीं कर सकती। मुझे यह भी प्रतीत होता है कि Reason का उलथा आत्मा और Soul का उलथा बुद्धि करना शाइद अच्छा होता। इस सारे विचार से सांख्य शास्त्र का मुकाबला करो जहां सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

जीवन का आदर्श यह है कि हम अपनी पृथक् हस्ती का त्याग कर देवें, और अपने देश को जहां से हम आए हैं, फिर जायें; अर्थात् उस ब्रह्म में जिस से हम उत्पन्न हुए हैं, लीन हो जायें। यह अन्तिम आदर्श है। अच्छे कर्म्म हमें इस आदर्श तक नहीं ले जा सकते, किन्तु वह प्रारम्भिक सोपान हैं। उनके पीछे विचार की मन्ज़िल आती है। विचार भी परमात्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं दिखलाता; एक सीमा तक हम इसे साथ ले जाते हैं; उसके पश्चात् इसका त्याग कर देते हैं। जिस प्रकार एक ऊंचे स्थान पर पहुंच कर हम उस सीढ़ी को जिस पर से हम चढ़े हैं, नीचे छोड़ देते हैं, उसी प्रकार एक स्थान पर पहुंचकर हम कर्म्मों और विचारों को छोड़ देते हैं। यह हमें हमारे गृह की ड्योढ़ी तक ले आते हैं, उस से आगे जाने का इन को अधिकार नहीं। अगली और अन्तिम मन्ज़िल भक्ति और योग की सहायता से पूरी होती है। इस अवस्था में मेरे तेरे का भेद जो कर्म्म और ज्ञान के समय में विद्यमान था, जाता रहता है। जीव अपने आप को ब्रह्म से पृथक् नहीं समझता, और जिस प्रकार जल बिन्दु, जिसे सूर्य्य की किरणें समुद्र की गोदी से पृथक् कर देती हैं, वर्षा के भ्रमण के पीछे फिर समुद्र में जा मिलता है, उसी प्रकार हम इस सारी तपस्या के पीछे परमात्मा में लीन हो जाते हैं। यह अवस्था मनुष्य के अपने यत्न का परिणाम नहीं होती, वरंच परमात्मा की कृपा से प्राप्त होती है।

दूसरा काण्ड

मध्य समय का तर्क
अथवा
ईसाई मीमांसा

षष्ठ अध्याय

मध्य समय के तर्क का इतिहास दूसरी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के तर्क का इतिहास है। इस तर्क के दो भाग किए जा सकते हैं। पहिले भाग में प्राचीन यूनानी तर्क के सिद्धान्तों की जगह ईसाई मत के सिद्धान्तों ने ली। ईसाई सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को निश्चित करने वाला आगस्टिन (३५४-४३०) था, और उसके साथ पहिला भाग समाप्त होता है। आगस्टिन के पीछे तर्क का काम सिद्धान्तों को निश्चित करना नहीं, प्रत्युत निश्चित सिद्धान्तों की पुष्टि करना है। ईसाई मत का बल बहुत बढ़ गया था, और किसी पुरुष को स्वतंत्र विचार करने की आज्ञा न थी। सातवीं और आठवीं शताब्दी में कोई वर्णनीय काम तर्क में नहीं हुआ। नवम शताब्दी में एक पुरुष स्कोटस् एरिजिना (Scotus Erigena) ने कहा कि धर्म्म और तर्क दोनों प्रत्येक अंश में मिलते हैं, और इन में कोई विरोध नहीं है। स्कोटस् एरिजिना के पीछे दो सौ वर्ष और निद्रा में व्यतीत हुए। पश्चिम में समाज की अवस्था में परिवर्तन हुआ; यूनीवरसिटियां बनीं और सिद्धान्तों के समाधान ने लोगों की रुचि को अपनी ओर आकर्षित किया। इस भाग में सेण्ट टामस (St. Thomas), डन्स स्कोटस् (Duns Scotus) और ओकम (Ockam) के नाम प्रसिद्ध हैं।

अब हम इस काल के तर्क का वर्णन कुछ विस्तार से करेंगे।

(१) सेण्ट आगस्टिन

मध्य काल के तर्क में दो अंग प्रसिद्ध प्रतीत होते हैं। एक धर्म्म का, दूसरा तर्क का। धर्म्म के अंग की नींव आगस्टिन की शिक्षा पर है, प्रत्युत यह कहना चाहिये कि आगस्टिन ने ईसाई तर्क को जन्म दिया। आरम्भ में ईसाईयों ने तर्क से युद्ध किया और अरस्तु को मति भ्रष्ट करने वाला वर्णन किया। परन्तु उन आक्षेपों ने जो तार्किकों ने ईसाई धर्म्म पर किये, इस धर्म्म के प्रचारकों को मज़बूर किया कि वह तर्क का पाठ करें, और शत्रु के साथ उसके अपने शस्त्रों से युद्ध करके उसे पराजित करें। तर्क के पाठ से पता लगा कि तार्किकों की शिक्षा और अञ्जील की शिक्षा बहुत सी बातों में मिलती है। ईसाई प्रचारकों ने समझा कि तर्क से युद्ध करने की अपेक्षा उसे अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए बर्त लेना अधिक लाभ कारी होगा। इस यत्न के सम्बन्ध में आगस्टिन का नाम विशेष करके प्रसिद्ध है।

(२) आगस्टिन और अफ़लातूं

आगस्टिन की शिक्षा अफ़लातू की शिक्षा से कई बातों में मिलती है:-

दोनों की सम्मति में सृष्टि उत्पत्ति का कारण परमात्मा का सतोगुण है। अफ़लातूं ने कहा था, परमात्मा ईर्षा से मुक्त है; इस लिये उस ने इच्छा की कि बाकी चीज़ें भी जहां तक सम्भव हो उसकी तरह होजायें। आगस्टन भी इसी प्रकार का विचार प्रगट करता है।

दोनों की सम्मति में बुराई केवल भलाई का अभाव है। यदि हम सृष्टि को समष्टिरूप में देखें, तो बुराई का अस्तित्व नहीं रहता।

दोनों की सम्मति में परमानन्द शारीरिक सुखों में नहीं, वरञ्च परमात्मा से प्रेम करने में है।

दोनों की सम्मति में पाप का कारण परमात्मा नहीं, प्रत्युत मनुष्य है। हां, परमात्मा इस पाप को भी नेकी का साधन बना लेता है; दुःख से आत्मा का प्राश्चित हो जाता है, और वह खोई हुई पवित्रता को प्राप्त कर लेता है।

इन मेलों के साथ अफ़लातूं की शिक्षा और ईसाई धर्म्म में भेद भी थे। इन में दो विशेष करके प्रसिद्ध हैं:—

(१) जहां अफ़लातूं दूसरे यूनानी तार्किकों की तरह प्रकृति के अनादित्व की शिक्षा देता है, वहां ईसाई धर्म्म के अनुसार परमात्मा ने सृष्टि को अपनी इच्छा से अभाव से उत्पन्न किया।

(२) ईसाई धर्म्म एक ही परमात्मा में तीन वस्तुओं, पिता पुत्र और पवित्रात्मा, की शिक्षा देता है; अफ़लातूं इस में विश्वास नहीं करता।

(३) आगस्टिन का सिद्धान्त।

जैसा हम ने देखा है, प्रकृति के अनादित्व के विषय में यूनान के पहिले तार्किकों को सन्देह भी नहीं हुआ। उन का यत्न केवल यह था कि इस प्रकृति का विशेष रूप वर्णन करें। एक ने इसे जल कहा, दूसरे ने वायु, तीसरे ने अग्नि; परन्तु इन भेदों के नीचे सब के सिद्धान्तों में यह बात मेल की थी कि प्रकृति, जो कुछ भी वह है, अनादि हस्ति रखती है। अनेक्सैगुरस ने सृष्टि उत्पत्ति के लिये प्राकृत तत्त्वों के अतिरिक्त एक चेतन शक्ति की आवश्यकता को अनुभव किया। सुकरात ने इस शक्ति को प्रकृति से अधिक महत्त्व दिया। अफ़लातूं ने भी ऐसा ही किया और प्रकृति को माया का नाम दिया। अरस्तु ने प्रकृति से अधिक महत्त्व आकार को दिया। परन्तु इसका महत्त्व अधिक था वा थोड़ा, इस में सन्देह नहीं कि प्राचीन यूनान के तर्क में प्रकृति अनादि हस्ति रखती थी।

आगस्टिन ने प्रकृति की स्वतंत्र अनादि हस्ति से इन्कार

किया, और कहा कि यदि प्रकृति अनादि हो, तो इस से परमात्मा के महत्त्व में दूषण आता है। आगस्टिन जानता था कि यह सिद्धान्त ऐसा नहीं जिसपर विपक्षी आक्षेप न कर सकें। इस के विरुद्ध कहा जा सकता है कि यदि परमात्मा ने सृष्टि को एक विशेष समय में उत्पन्न किया,तो उस सभय से पहिले वह क्या करता था? इस आक्षेप से बचने के लिये आगस्टिन दूसरा सिद्धान्त यह पेश करता है कि सृष्टि उत्पत्ति से पहिले काल की हस्ति ही नहीं थी। काल केवल परिवर्तन को मापने के लिये है। सृष्टि उत्पत्ति से पहिले परमात्मा के अतिरिक्त कुछ न था, और परमात्मा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। काल और सृष्टि को परमात्मा ने एक साथ बनाया। आगस्टिन समझ नहीं सक्ता कि परमात्मा सृष्टि के बिना किस तरह रह सकता था। बात यह है कि तार्किक आगस्टिन और ईसाई आगस्टिन कई बातों में नहीं मिलते, और इस लिये कई स्थानों में उसकी शिक्षा में परस्पर विरोध पाया जाता है। वह इस प्रकार के विचारों से तंग आकर कहता है कि सब से उच्च नियम जिसका हमें ज्ञान हो सकता है, परमात्मा की इच्छा है। हमारा यह पूछना कि सृष्टि की उत्पत्ति क्यों हुई ? व्यर्थ समय खोना है। परमात्मा ने अपने से अलग और पदार्थ रचे,क्योंकि उस ने ऐसा करना पसन्द किया। हमारा अधिकार नहीं कि हम इस से अधिक पूछें। हम केवल यही विचार सकते हैं कि पदार्थों में इतना भेद क्यों है ? इस का उत्तर यह है कि भागों के भिन्नत्व से ही समग्र की एकता हो सकती है।

जीवात्मा के सम्बन्ध में आगस्टिन का सिद्धान्त है कि ज्ञान, स्मृति और विचार आत्मा की हस्ती का प्रमाण हैं। जैसा डेकार्ट ने पीछे कहा,आगस्टिन कहता है, "क्या तुम्हें अपनी हस्ति में सन्देह है? सन्देह करना विचार करना है,और विचार करना हस्ति रखना है"। हमें आत्मा की हस्ति का प्रमाण मिलता है, तो भी यह कहना कठिन है कि आत्मा क्या वस्तु है ? कई इसे प्राकृत तत्त्वों की क्रिया का परिणाम बताते हैं। यह असत्य है, क्योंकि आत्मा चैतन्य है और तत्त्व चैतन्यता से शून्य हैं।

जीवात्मा के आदित्व के विषय में हम क्या कह सकते हैं ? आगस्टिन कहता है कि ईसाईयों में कई जीव को परमात्मा से निकला हुआ वर्णन करते हैं, परन्तु ऐसा करना जीवात्मा के गौरव को अत्यन्त बढ़ा देना है। दूसरे पदार्थों की तरह जीवात्मा को भी परमात्मा ने एक विशेष समय पर बनाया है। जीवात्मा की अनित्यता के विषय में आगस्टिन कहता है कि यह अमर है, क्योंकि इस में बुद्धि का अंग है। बुद्धि और सत्य एक ही हैं, और सत्य का नाश नहीं हो सकता। जीवात्मा को अमर मानते हुए भी एक विशेष समय में उसकी उत्पत्ति मानना तर्क के अनुसार प्रतीत नहीं होता, परन्तु आगस्टिन ईसाई था और ईसाई मत के सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिये यत्न करता था। परमात्मा के गौरव को बढ़ाने के लिये वह मनुष्य को नीचे गिराता है, और जीवात्मा को अनादि स्वीकार नहीं करता। अफ़लातूं ने प्रागभाव (Pre-existence) की शिक्षा देते हुए आत्मा में नैसर्गिक भावों (Innate Ideas) की शिक्षा दी थी ; आगस्टिन ऐसे भावों की हस्ति को भी स्वीकार नहीं करता, और कहता है कि बाह्य जगत् का सारा ज्ञान इन्द्रियों से आता है, और धार्मिक तथा आचार सम्बन्धी नियमों का प्रकाश साक्षात् परमात्मा की ओर से होता है। मनुष्य निर्बल है, पापी है, परन्तु अपने यत्न से वह पाप से बच नहीं सकता। उस का बचाव सर्वथा परमात्मा की दया पर निर्भर है। परमात्मा सारे मनुष्यों को नहीं बचाता, और यह पहिले से निश्चय हो चुका है कि कौन २ पुरुष बचाए जायेंगे। आगस्टिन अपने नियम के परिणाम को स्पष्ट शब्दों में कहने का साहस नहीं करता कि पहिले से यह भी निश्चय हो चुका है कि कौन २ से नर्क में डाले जायेंगे, चाहे उन के कार्य्य कैसे ही हों।

आचार आदर्श और परमात्मा के सम्बन्ध में उस समय प्रश्न पैदा हो गया था कि इन दोनों में मुख्य कौन है ? क्या इस आदर्श की सिद्धि का यत्न इस लिये करना चाहिये कि परमात्मा इसकी आज्ञा देता है, या परमात्मा इसकी आज्ञा देता है, क्योंकि यह

आदर्श अपने आप में सिद्ध करने योग्य है ? आगस्टिन की सम्मति में परमात्मा अपनी इच्छा से धर्म्म और सत्य को नियत नहीं करता, प्रत्युत उस की इच्छा धर्म्म और सत्य के अनुसार होती है। सत्य भाषण इस लिये अच्छा कर्म्म नहीं कि परमात्मा ने उसकी आज्ञा दी है, वरंच परमात्मा उस के अच्छा होने के कारण उसकी आज्ञा देता है। सार यह कि धर्म्म का आदर्श परमात्मा की इच्छा से बाहिर और उस से स्वतंत्र है। यह नियम आगस्टिन की शिक्षा के उस नियम के कि परमात्मा की इच्छा ही सब से बड़ा नियम है, विरुद्ध है।

(४) आगस्टिन के पीछे

आगस्टिन की मृत्यु के साथ रोमा की बड़ाई का अन्त हो गया। उत्तर के असभ्य लोगों ने सभ्य जातियों पर शासन करना आरम्भ किया। पुरानी रियास्तों के नाश होने पर पुरानी सभ्यता भी अलोप होने लगी। इस कठिन समय में पुरानी संस्थाओं में केवल ईसाई संस्था (चर्च, Church) ही थी, जिसके बच रहने की सम्भावना थी। इस संस्था ने अपने आप को नवीन हालात के अनुसार बनाया और सारे मनुष्यों की बराबरी का प्रचार किया। जब अन्धेरी आई, चर्च अपने स्थान पर खड़ा रहा, और जो बल पूर्वकाल में राज्य के हाथों में था, वह इस के हाथों में आगया। हर एक प्रकार के पुरुषों के लिये धार्म्मिक शान्ति का स्रोत बनने के अतिरिक्त, चर्च विद्या और विचार का घर बना। पादरियों ने संसार के झगड़ों से पृथक् होकर अपने आप को पठन पाठन में लगाया; धर्म्म और तर्क का युद्ध समाप्त हुआ, और तर्क का एक मात्र उद्देश्य युक्ति से सिद्धान्तों की पुष्टि करना नियत किया गया।

ईसाई मीमांसा का बड़ा नियम यह है कि तर्क और धर्म्म का विषय और उद्देश्य एक ही है; और तर्क का काम धर्म्म की सेवा करना है। इस से पहिले तर्क का काम सत्य की खोज करना था। अब इस खोज की आवश्यकता न थी, क्योंकि समग्र सत्य अञ्जील

में लिखा था। आवश्यकता केवल इस बात की थी कि इस सत्य को प्रकाशित किया जावे। इस काम के लिये पहिले अफ़लातूं से और पीछे अरस्तु से सहायता ली गई। इस प्रकार ईसाई मिमांसा का काल दो भागों में बांटा जा सकता है। दूसरे भाग में जब कि अरस्तु को सम्प्रदाय का प्रमाणिक तार्किक माना गया, फिर दो भाग होते हैं। प्रथम भाग में अरस्तु की शिक्षा के सम्बन्ध में ईसाई तार्किकों के कथन प्रमाणिक स्वीकार किये जाते थे, दूसरे भाग में लोगों ने अरस्तु को अरब के अनुवादकों की सहायता से उसकी अपनी पुस्तकों में देखा। चौदहवीं शताब्दी से पूर्व विचार था कि अरस्तु जाति की हस्ति में विश्वास करता है; उस के पीछे यह विचार फैलने लगा कि अरस्तु प्रत्येक से परे किसी पदार्थ को नहीं मानता।

सर्व साधारण की सम्मति में इस में बहुत भेद नहीं पड़ता कि एक समय का तर्क अफ़लातूं को आचार्य्य स्वीकार करता है या अरस्तु को; और यदि अरस्तु को गुरू मानता है, तो उसे जाति स्वातंत्र्यवादी (Realist) मानता है, या नाम वादी। किन्तु विचार करने से पता लगेगा कि हर एक समय का तर्क उस समय के आन्तरीय जीवन और आदर्शों का प्रकाश करता है। ईसाई मीमांसा ने यदि अपने आचार्य्यों को बदला, तो इसकी नींव में वह परिवर्तन था जो लोगों के जीवन में हो रहा था। यह परिवर्तन चाहता था कि यूनीवर्स्टियां और विद्यालयों के सिद्धान्त भी समय के साथ बदलें। जैसा हमने देखा है मध्य समय के आरम्भ में पोप का चर्च अकेली शक्ति थी। लोगों के आत्मा इसके हाथ में थे। यदि पहिले प्रत्येक राज्य के लिये जीता था, तो अब चर्च के लिये जीता था। अधिकारों का स्वामी केवल चर्च था; प्रत्येक के कर्तव्य थे, चर्च के जीवन में अपने जीवन को समर्पण कर देना उसका मुख्योद्देश्य था। चर्च एक धर्म्म में विश्वास करने वाले लोगों का समूह ही नहीं था, किन्तु इन लोगों से परे एक बल था जिसकी पवित्रता में सन्देह करना अधर्म्मी बनना था। इसी प्रकार के विचार अफ़लातूं के थे। भेद केवल इतना था कि अफ़लातूं के तर्क में प्रत्येक राज्य के लिये जीता था, और ईसाई सम्प्रदाय के पहिले भाग में चर्च के लिये।

आरम्भ में जब पोप के चर्च की शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी, अफ़लातूं ही उस का प्रमाणिक तार्किक हो सकता था।

कुछ समय व्यतीत हुआ और मनुष्य ने अपने अधिकारों के सम्बन्ध में विचार करना आरम्भ किया, और निश्चय किया कि वह अधिकारों से सर्वथा शून्य नहीं। प्रत्येक की हस्ती केवल साधन का मूल्य नहीं रखती; चर्च के अधिकार हैं, परन्तु प्रत्येक के भी अधिकार हैं। जिन लोगों के विचार यह थे, वह अफ़लातूं को तर्क का आचार्य्य स्वीकार नहीं कर सकते थे। अरस्तु के सन्मुख शिर झुकाया गया, क्योंकि अरस्तु ने प्रत्येक के अधिकारों को भी स्वीकार किया था। कुछ समय और व्यतीत हुआ। प्रत्येक ने अनुभव किया कि वह चर्च के साथ अधिकारों का स्वामी नहीं, प्रत्युत वही अधिकारों का स्वामी है; चर्च एक धर्म्म संस्था में मिले हुए पुरुषों के समूह से बढ़ कर कोई वस्तु नहीं। अब अरस्तु की पुस्तकों के अनुवाद लोगों के सामने थे। उन्हों ने देखा कि जो कुछ अरस्तु की शिक्षा वर्णन होती रही है, वह वास्तव में उसकी शिक्षा नहीं है। ईसाई मीमांसा का अन्तिम भाग जाति स्वातंत्र्यवाद (Realism) और नामवाद (Nominalism) का युद्ध है। यूनीवर्स्टियां शब्दार्थों में युद्धस्थान बन गईं, और विलक्षणता यह कि दोनों श्रेणियों में अरस्तु को प्रमाण माना जाता था। इस प्रकार यदि ईसाई मीमांसा ने पहिले अफ़लातूं को और पीछे अरस्तु को प्रमाणिक तत्त्वदर्शी माना, और अरस्तु को पहिले जातिस्वातंत्र्य वादी और पीछे नाम वादी स्वीकार किया, तो इस में कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। ज्यों २ हालात में परिवर्तन होता गया, तर्क भी बदलता गया। प्रत्येक अवस्था में तर्क समय के भावों का प्रतिबिम्ब था।

इस संक्षिप्त वृतान्त में यह सम्भव नहीं कि उस समय के सारे तार्किकों की बाबत लिखा जावे। प्रसिद्ध नाम यह हैं:—

पहिला भाग–१–स्कोटस् एरिजिना (Scotus Erigena)।
२–सेण्ट एन्सैल्म (St. Anselm)।
दूसरा भाग–१–सेण्ट टामस (St. Thomas)।
२–डन्स स्कोटस् (Duns Scotus),
ओकम (Ockam)।

जाति और प्रत्येक की हस्ति और उन के परस्पर सम्बन्ध के अतिरिक्त इन लोगों के तर्क का प्रधान विषय परमात्मा है। इन के विचारों को संक्षेप से पाठ करने के लिये हम इस विषय को दो भागों में बांटते हैं:—

(१) परमात्मा की हस्ति।

(२) परमात्मा के गुण।

(५) परमात्मा की सत्ता के विषय में विचार

परमात्मा की सत्ता के विषय में जो प्रमाण तत्काल दिये गये, वह दो प्रकार के हैं—एक वह जिनका मूल अनुभव है, और दूसरे वह जो परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करने से प्राप्त होते हैं। प्रथम प्रकार के प्रमाण तो अफ़लातू और अन्य पूर्वजों ने भी दिये थे; दूसरी जाति के सेंट ऐन्सैलम ने दिये हैं।

अनुभव हम को क्या शिक्षा देता है ?

एक तार्किक ऐल्बर्टस (Albertus) कहता है, 'ब्रह्माण्ड के सकल पदार्थ उच्चस्वर से पुकार रहे हैं कि परमात्मा विद्यमान है; संसार की सुन्दर वस्तुएं एक विशेष सौन्दर्य्य की सत्ता की साक्षी हैं; प्रत्येक मधुर वस्तु अत्युत्तम मधु को दर्शाती है; जो कुछ अच्छा है, वह अपने से उत्तम श्रेष्ठता की हस्ति का प्रमाण है, और प्रत्येक पवित्रता उस पवित्रता के स्रोत को दर्शाती है'।

टामस (Thomas) कहता है कि सांसारिक पदार्थों में उत्तम और निकृष्ट आदि का भेद है; किन्तु इस भेद के यह अर्थ हैं कि हम एक आदर्श से उन की तुलना करते हैं; जो वस्तु आदर्श के समीप है, उस को उत्तम कहते हैं; जो उस से दूर है, वह निकृष्ट कहलाती है। इस से हम एक ऐसी सत्ता का अनुमान करते हैं जो अन्य पदार्थों के सौन्दर्य्य और उत्तमता का स्रोत है; इसी को परमात्मा कहते हैं।

दूसरा प्रमाण जो विशेष कर ऐन्सैलम के नाम से प्रसिद्ध है, और स्वतः सिद्ध (A priori) कहलाता है, यह है:—

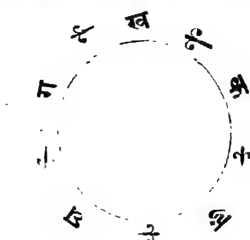
परमात्मा की हस्ति का प्रमाण देने के लिये आवश्यक है कि हम अपने प्रमाण की नींव ऐसी प्रतिज्ञा पर रक्खें, जिस की बाबत आस्तिक और नास्तिक दोनों सहमत हों । यह प्रतिज्ञा परमात्मा के ख्याल की है । जब नास्तिक परमात्मा की हस्ति से इन्कार करता है, तो उस के मन में परमात्मा की बाबत ख्याल विद्यमान् होता है । हमारा यत्न होना चाहिये कि परमात्मा के ख्याल से परमात्मा की सत्ता को सिद्ध करें । ऐन्सैल्म कहता है, "परमात्मा से मैं ऐसी सत्ता समझता हूं, जिस से किसी बड़े का चिन्तन नहीं हो सक्ता । अब यदि हम मानें कि परमात्मा की हस्ति हमारे मन में ही है, तो ऐसे परमात्मा से एक बड़े का चिन्तन हो सक्ता है, अर्थात् ऐसे परमात्मा का जो हमारे ज्ञान से बाहिर यथार्थ जगत् में भी विद्यमान् है । इस लिये परमात्मा की हस्ति हमारे ज्ञान से बाहिर वास्तविक जगत् में भी है" ।

इस युक्ति से ऐन्सैल्म के समय के लोगों के संदेह निवृत्य नहीं हुए । एक आक्षेपी, गानीलो (Gaunilo) ने इस युक्ति का खण्डन किया, और कहा, "चिन्तन में सत्ता रखना एक बात है, और वास्तविक सत्ता रखना अन्य बात है । यदि हम परमात्मा का चिन्तन कर सक्ते हैं, तो यह हमारी मानसिक शक्तियों को प्रकाश करता है, परन्तु परमात्मा की वास्तविक सत्ता का प्रमाण नहीं । मैं एक द्वीप का चिन्तन करता हूं, जिस में हरप्रकार के आनन्द विद्यमान् हैं । क्या इस से यह परिणाम निकलता है कि वह द्वीप वास्तव में मेरे मन से बाहिर विद्यमान है ?" । जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, नवीन तर्क में डेकार्ट ने ऐन्सैल्म के प्रमाण को पेश किया और काण्ट ने इस पर गानीलो का आक्षेप किया ।

परमात्मा की सत्ता के विषय में अन्य युक्तियें जो तत्काल दी गईं, वह यह हैं:—

(१) कारण और कार्य्य का क्रम अनन्त नहीं हो सक्ता । कारण कार्य्य की माला के लटकने के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी विशेष बिन्दु से लटके । यदि यह कहा जाये कि कारण और कार्य्य

का लड़ी एक चक्र बनाती है, तो इस में यह दोष आता है कि एक घटना दूसरी घटना से पूर्व भी प्रगट होती है और पश्चात् भी।



यदि क, ख का कारण हो ; और ख, ग का : और ग, घ का ; और घ, ङ का ; तो ङ किसी अवस्था में क का कारण नहीं हो सकता। क, ङ से प्रथम प्रगट हो चुका है और कोई कार्य्य कारण से पूर्व प्रगट नहीं होता। यह युक्ति डन्स सकोटस ने दी है। ओकम ने कारण कार्य्य के सम्बन्ध में सृष्टि उत्पत्ति की अपेक्षा सृष्टि की स्थिति (Conservation) पर विशेष ज़ोर दिया है। वह कहता है कि यदि हम उत्पत्ति करने वाले कारणों के अनन्त क्रम का चिन्तन कर भी लेवें, तो भी स्थिति करने वाले कारणों के ऐसे क्रम का चिन्तन नहीं कर सक्ते।

(२) संसार की वस्तुओं में परिवर्तन होता रहता है ; इन में कोई वस्तु ऐसी नहीं जिस का किसी न किसी समय में अभाव न हो सक्ता हो ; इसलिये यह अनादि काल से विद्यमान नहीं रहीं। यदि सारा तत्त्व इन में ही होता, तो सृष्टि की स्थिति अब भी न होती, क्योंकि अभाव से भाव नहीं हो सकता। इन पदार्थों के लिये एक बनाने वाले की आवश्यकता है, जिस की सत्ता केवल संभव ही नहीं, किन्तु आवश्यक है, और जो सत् पदार्थ है।

इस युक्ति पर टामस ने ज़ोर दिया है। यह संतोष-जनक नहीं, क्योंकि यद्यपि सृष्टि की कोई वस्तु व्यक्तिरूप से सदा बनी नहीं रहती, तथापि समष्टि रूप से सृष्टि के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सक्ता। प्रकृति विद्यमान है, और नानारूप धारण करती है। टामस ईसाई होने के कारण प्रकृति को अनादि नहीं मानता था;

इसलिये वह परमात्मा को सृष्टि का उत्पादक वर्णन करता है। किन्तु अनुभव हम को परिवर्तन दिखाता है, और अभाव से उत्पत्ति कहीं दिखाई नहीं देती।

(३) सृष्टि के सकल पदार्थ एक विशेष आदर्श की ओर जाते हुए दीखते हैं। मनुष्य जीवन के प्रति विभाग में हम को प्रतीत होता है कि हर एक क्रिया किसी विशेष आदर्श की ओर है। यही हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में देखते हैं, जिन में ज्ञान नहीं। जड़ पदार्थ ऐसी क्रिया नहीं कर सक्ते। इस लिये हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि यह सकल पदार्थ किसी चैतन्य अधिष्ठातृ शक्ति के आज्ञानुसार विचरते हैं। एक लेखक लिखता है, 'वह मनुष्य जो उत्पन्न हुए पदार्थों के सौंदर्य्य को नहीं देखता, अन्धा है; वह मनुष्य जो ईश्वरीयध्वनि का श्रवण नहीं करता, बहरा है; वह मनुष्य जो इन सकल पदार्थों को निरीक्षण करके भी धन्यवाद गायन नहीं करता, गूँगा है"।

(४) इन लोगों के लेखों में यह भाव भी मिलता है कि परमात्मा भक्तों के हृदयों में अपना प्रकाश करता है, और जिस जगह बुद्धि काम नहीं कर सक्ती, वहां पुण्य आत्मा उस के अस्तित्व को अनुभव करता है। सेंट ऐन्सैल्म कहता है,'दीन पुरुष, इन झगड़ों को त्याग, अशान्त करने वाले भावों से अतिरिक्त होकर अपने आप को नम्रता से छिपा ले। तर्क के बोझ को परे फैंक, और अपने आत्मा में निमग्न हो। परमात्मा के बिना अन्य सर्व वस्तुओं से विरक्त हो कर कह 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वशक्तिमान्, सर्वहृदयान्तर्गत, सर्वव्यापकप्रभु, यदि मैं तुझ को यहां आत्मा में नहीं पाता, तो किस जगह पा सकूंगा?'।

(५) परमात्मा के स्वरूप के विषय में

परमात्मा की सत्ता को छोड़ कर दूसरा प्रश्न जो इस समय के तार्किकों के सन्मुख उपस्थित है, वह यह है कि परमात्मा का स्वरूप क्या है, और सृष्टि के साथ उस का क्या सम्बन्ध है? इस विषय में दो भाव जो एक दूसरे से भिन्न और परस्पर विरोधी हैं,

मिलते हैं। प्रथम भाव का मूल अरस्तु और आगस्टिन की शिक्षा है; इस शिक्षा के अनुसार परमात्मा सृष्टि से भिन्न है, और इस का निमित्त कारण है। इस भाव को चर्च भी मानता है, और इसी भाव की विद्यालयों में शिक्षा दी जाती है। इस के साथ ही साथ धीमी स्वर से यह भाव भी प्रगट किया जाता है कि परमात्मा सृष्टि से पृथक नहीं, किन्तु परमात्मा की सत्ता और सृष्टि के दृश्य पर्याय शब्द हैं। प्रथम भाव को प्रगट करने वालों में टामस ऐकीनास (Thomas Aquinas) सब से अधिक प्रसिद्ध है, और दूसरे के साथ सकोटस परिजिना और एकर्ट के नाम सम्बन्धित हैं।

सेंट टामस की मति के अनुसार, हम परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सक्ते; हां, उस के कार्य्यों को देखकर कुछ अनुमान कर सक्ते हैं। परमात्मा परिपूर्ण है, वह अनन्त है, वह ज्ञानस्वरूप है, यद्यपि अपने ज्ञान के लिये इन्द्रियों का सहारा नहीं लेता। उस का ज्ञान अनुमान नहीं, वरञ्च प्रत्यक्ष है। उस को एक बात के जानने के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं; वह सहकाल ही सब कुछ देखता है। उस के ज्ञान में सब कुछ है। वह स्वयम् अपने आप को जानता है और इस सकल संसार को भी। ज्ञान से अतिरिक्त उस में कृति भी है; इस कृति ही के कारण वह अपनी भलाई को दूसरों तक पहुंचाता है, और मनुष्यों को अपने स्वरूप में घड़ता है। टामस की मति में परमात्मा में ज्ञान और कृति ही नहीं, वरंच प्रेम भी है। वह स्वयम् पुण्य है, अतएव पुण्य से ही उस का प्रेम होता है, और उस के प्रेम की तुलना इसी से हो सक्ती है कि प्रेम के विषय में कितनी नेकी है।

परमात्मा सर्व शक्तिमान् है, और प्रत्येक कार्य्य जिस में परस्पर विरोध न हो, और जो उस की बुद्धिमत्ता और सद्भावों का विरोधी नहीं, कर सकता है। उस का विशेष गुण सृष्टि उत्पत्ति है। टामस ने उन युक्तियों का जो अरस्तु ने प्रकृति के अनादि होने में दी हैं, खण्डन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह यह भी मानता है कि सृष्टि का किसी समय में अभाव से सत्ता में आना तर्क से सिद्ध नहीं हो सका; यह केवल विश्वास का विषय है।

सकोटस एरिजिना ब्रह्माण्ड को चार भागों में बांटता है:—

(१) वह जो उत्पन्न करता है, किन्तु उत्पन्न किया नहीं जासक्ता।

(२) वह जो उत्पन्न हुआ है, और उत्पन्न करता है।

(३) वह जो उत्पन्न हुआ है, किन्तु उत्पन्न करता नहीं।

(४) वह जो न उत्पन्न करता है, न उत्पन्न होता है।

ऐरिजिना कहता है कि प्रथम और चतुर्थ विभाग में केवल परमात्मा ही आता है। परमात्मा को हम सृष्टि का मूल अथवा अन्त मान सक्ते हैं; यदि आदि मूल समझ कर उस का चिन्तन करें, तो वह प्रथम विभाग में आता है; यदि उस के दूसरे रूप को देखें, तो वह चतुर्थ भाग में आता है। द्वितीय भाग में वह आदर्श या विज्ञानाकार हैं, जो स्वयम् उत्पन्न किये गये हैं, और व्यक्तियों को उत्पन्न करते हैं। तृतीय विभाग में वह विशेष पदार्थ हैं, जो उत्पन्न होते हैं, किन्तु उत्पादक शक्ति से वञ्चित हैं।

द्वितीय और तृतीय विभागों के पदार्थ संघट किये जा सक्ते हैं, क्योंकि यह दोनों व्यक्त (नेचर) में आजाते हैं। इस प्रकार हमारे विभाग संकुचित होजाते हैं, और सारे पदार्थ दो विभागों में रक्खे जा सक्ते हैं—(१) परमात्मा—(२) प्राकृत जगत्।

एरिजिना इस से भी आगे जाता है, और कहता है कि इन दोनों में भी कोई भेद नहीं। प्रकृति परमात्मा का विकाश है और परमात्मा विश्व का तत्त्व है। वास्तव में एक ही सत्ता है और वह परमात्मा है। जो कुच्छ हम अनुभव करते हैं, जो कुच्छ हमारे दृष्टिगोचर होता है, वह उसी परमात्माका विकाश है, जो आप छिपा हुआ है। यह बाह्य जगत् उस की सत्ता का प्रकाश है। उस के शुद्ध स्वरूप के विषय में हम कुच्छ नहीं कह सक्ते। परमात्मा सकल वस्तुओं का तत्त्व है; सृष्टि उत्पत्ति एक दैवघटना नहीं, किन्तु अवश्य होनी चाहिये। परमात्मा की न्याई सृष्टि भी अनादि है। सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व परमात्मा की हस्ति ही नहीं थी। जिस प्रकार सकल वस्तुयें परमात्मा से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार उस में लीन हो जाती हैं।

वह इन सब को अपने अन्दर ले लेता है, वरञ्च यह कहना चाहिये कि वह आप ही अपने आप में लीन हो जाता है।

एकर्ट (चतुर्दशशताब्दी) कहता है कि परमात्मा न यह है, न वह है, वरंच सारे पदार्थों में है। केवल परमात्मा के विषय में कह सक्ते हैं कि उस की सत्ता है। परमात्मा में सत्ता और ज्ञान भिन्न नहीं, किन्तु एक ही हैं। परमात्मा अपने शुद्ध स्वरूप को आप भी नहीं जानता; उस का ज्ञान उस के सापेक्ष स्वरूप की सीमा पर्य्यन्त है। उस के लिये अपने आप को प्रकाश करना आवश्यक है, चाहे उस की इच्छा हो अथवा न हो। सारे पदार्थ परमात्मा का शब्द हैं, और बोलते हैं। प्रत्येक वस्तु परामात्मा से परिपूर्ण है, और जब हम किसी वस्तु से प्यार करते हैं, तो उस के अभ्यन्तर वास करने वाले परमात्मा के कारण से करते हैं। प्यासा पुरुष जल की अभिलाषा इसलिये करता है कि जल में परमात्मा निवास करता है।

(६) मीमांसिक सम्प्रदाय का अन्त

जैसा हमने देखा है, इस सम्प्रदाय में दो नियम प्रधान हैं— एक यह कि सत्य के विवेक की आवश्यकता नहीं; वह अञ्जील में पाया जाता है, केवल उस के समाधान की आवश्यकता है; दूसरे यह कि चर्च मनुष्यों के आत्माओं का ईश्वर है; सारे अधिकार चर्च के हैं; प्रत्येक के कर्तव्य ही हैं और उस का धर्म्म है कि इसकी आज्ञा पालन करे। चौदहवीं शतब्दी में जब स्पेन के अबों के द्वारा अरस्तु की पुस्तकों के अनुवाद लोगों के सन्मुख आये, तो उन्हों ने देखा कि अरस्तु नामवादी है, प्रत्येक के अधिकार सब से अधिकतर हैं। मानुष आत्मा देर तक इन बन्धनों में, जिन में चर्च ने इस को बान्ध दिया था, बद्ध नहीं रह सक्ता था। तर्क का उल्लास चर्च के कर्म और आज्ञा की पुष्टि करने से ऊंचा उड़ा और लोगों ने चर्च की शिक्षा में संशय करना आरम्भ किया। ईसाई मीमांसा के तार्किकों की शिक्षा में भी विरोध था, और इस विरोध ने संदेहवाद को फिर पैदा कर दिया।

पञ्चदशमी शताब्दी में कुछ ऐसी विचित्र घटनायें हुईं, जिन से यूरुप की काया पलट गई। जीवन के प्रत्यङ्ग में एक महान् परिवर्तन प्रगट हुआ। ऐसी दशा में यह असंभव था कि तर्क स्थित रहे। जैसा हम ने पूर्व कहा है, तत्त्वज्ञान अपने समय के सर्वोत्तम और गहरे भावों का विकाश होता है। स्वतंत्रता के भाव हर तरफ़ अपना राज्य स्थापन कर रहे थे, और यह असंभव था कि तार्किक भाव दासत्त्व के बन्धन में ग्रथित रहे। वह कौन सी घटनायें हैं, जिन्हों ने यूरुप की दशा में ऐसा परिवर्तन कर दिया? सब से प्रथम तुर्कों की विजय का वर्णन करना चाहिये जो उन को यूनान पर प्राप्त हुई। इस का परिणाम यह हुआ कि यूनान निवासियों ने अपना देश त्याग किया, औरअन्य देशों में अपने घर बनाए। यूनान तो उजड़ गया, किन्तु दूसरे देश अन्धकार से प्रकाश में आगये। बहुत से यूनानी इटली में चले गये; वहां जाकर उन्हों ने अपने प्राचीन साहित्य और तर्क की शिक्षा देना आरम्भ किया। इटली के पुरुषों ने गत शताब्दी में अरस्तु को उस के अनुवादों से जाना था; अब साक्षात् उस के दर्शन कर लिये। इटली वालों की दृष्टि ईसाई धर्म्म से परे नहीं जाती थी; अब उन्हों ने देखा कि उन की सभ्यता से भी एक और प्राचीन सभ्यता है। पहले चर्च सारी आचार सम्बन्धी धार्मिक और लौकिक शिक्षा का ठेकेदार था; अब लोगों ने देखा कि चर्च के बाहिर भी सत्य विद्यमान है, और जीवन के उच्च आदर्श चर्च से बाहिर भी मिलते हैं। चर्च की वर्तमान दशा के साथ प्राचीन यूनान की सभ्यता की तुलना ने चर्च के पलड़े को हलका दिखाया। इस नूतन ज्ञान का पुरुषों के चित पर इतना प्रभाव हुआ कि ईसाई धर्म की जगह यूनानी तर्क और पौराणिक कथाओं (Mythology) ने ले ली।

इस समय भूला हुआ भूतकाल फिर सामने आया। इस के साथ ही पृथ्वी के दूसरे भागों का भी निरूपण हुआ। कोलम्बस ने अमेरिका के दर्शन कराये; वासकोडीगामा ने भारत वर्ष का मार्ग खोज कर निकाला, मेगेलन ने पृथ्वी के चारों ओर यात्रा की।

मनुष्य की बुद्धि पृथिवी से ऊपर उड़ी। कोपर्नीकस (Copernicus) ने कहा कि हमारी पृथिवी विश्व का केन्द्र होने की जगह एक साधारण ग्रह है। कयपलर (Kepler) ने ग्रह चक्रों के आकार का पता लगाया और क्रिया के नियमों (Laws of Motion) का वर्णन किया। गैलिलियो (Galileo) ने अपनी दूरबीन से बृहस्पति के उपग्रहों (Satellites of Jupiter) को ज्ञात किया। अरस्तु के कल्पित भूगोलों और उन की क्रियाओं में अन्ध विश्वास करने के स्थान में अब मनुष्य के चक्षुओं ने देखना और मनुष्य की बुद्धि ने अपने लिये सोचना आरम्भ किया।

इन कारणों से बुद्धि उज्वल हुई, किन्तु निद्रा ग्रस्त मनुष्य समूह को उन्नति की तरफ़ लाने के लिये एक इन से भी महान् शक्ति की आवश्यकता थी। यह शक्ति लूथर (Luther), ज़्विन्जली (Zwingli) और कालविन (Calvin) की थी। चर्च की वर्तमान दशा बहुत गिरी हुई थी; नाना प्रकार के उपद्रव मौजूद थे; जो पुरुष दूसरे लोगों के गुरु बनने का अधिकार जमाते थे, वह अपने जीवन से कोई शुद्ध प्रभाव नहीं डाल सक्ते थे; चर्च समष्टि रूप से कहता था कि वह पृथ्वी पर परमात्मा का प्रतिनिधि है, और इस लिये चर्च की आज्ञा पालना परमात्मा की ही आज्ञा पालना है। चर्च पुरुषों से धन ग्रहण करता था, और धन के बदले उन को पापों से मुक्ति देता था, और स्वर्ग में सुख के साधन देने का ठेका लेता था। यह व्यवस्था मानुष आत्मा को क्रोधित करने वाली थी, किन्तु बुद्धि दासभाव के बन्धनों में फंसी हुई संशय करने में भी असमर्थ थी। साधारण नर कहते थे, 'हम कौन हैं जो ऐसे विषयों में अपनी बुद्धि से चिन्तन करें? हमारी समझ से चर्च की मूर्खता कई गुणा अच्छी है'। लूथर ने इस पाखण्ड का खण्डन किया। तत्त्ववेत्ताओं ने उस न्याय का जिस को चर्च प्रमाणिक मानता था, खण्डन किया था; लूथर सीधा स्रोत पर पहुंचा, और चर्च के न्याय को छोड़ कर चर्च पर ही आक्रमण किया। चर्च को छोड़ कर उस ने अञ्जील की शरण ली, और कर्म काण्ड की जगह श्रद्धा और विश्वास को दी।

लूथर के नियम ज़्विन्जली और कालिवन ने ग्रहण किये। मनुष्यों की बुद्धि मुक्त हुई; उन्हों ने विचार किया कि यदि पुरुष की मुक्ति श्रद्धा और भक्ति पर निर्भर है, तो पोप से मुक्ति का सौदा करने की आवश्यक्ता नहीं; यदि पवित्र जीवन भक्ति के आधार है, तो आवश्यक नहीं कि मनुष्य घर बार का त्याग कर देवे।

प्रचारकों और अन्य पुरुषों में, जीवन के धार्मिक तथा सांसारिक विभागों में, पृथ्वी और आकाश में जो दृढ़ लकीर खिची हुई थी, वह नाश होगई।

पोप के चर्च ने मृत्यु से बचने के निमित्त यत्न किया। कोलम्बस कहता था कि पृथ्वी गोलाकार है; पादरियों ने सभायें कीं, और निश्चय किया कि पृथ्वी गोलाकार नहीं हो सक्ती। यदि ऐसा हो तो जहाज़ एक बार नीचे जाकर ऊपर नहीं आसक्ता, और अञ्जील में कई वर्णन हैं जो इस भाव के विरोधी हैं। सूर्य्य के स्थावर होने और पृथ्वी के जङ्गम नक्षत्र होने के विरुद्ध कहा गया कि यदि इस प्रकार पृथ्वी घूमेगी तो पृथ्वी और आकाश का भेद जिस का वर्णन अञ्जील में किया गया है, जाता रहेगा, और परमात्मा के लिये आकाश पर कोई विशेष स्थान नहीं रहेगा। ब्रूनो को कष्ट दिये गये, और गैलिलियो को अपनी सम्मति पलटने के लिये कहा गया। नये प्रकाश अथवा भाव के समावलम्बियों को नाना प्रकार के क्लेश दिये गये।

चर्च ने यह सब कुछ किया और अपने बचाव के लिये किया; किन्तु मनुष्य का आत्मा स्वतंत्र हो चुका था। जहां एक ओर धार्म्मिक जीवन में पोप की निःसीम शक्ति जाती रही, वहां दूसरी ओर तर्क में मीमांसिक सम्प्रदाय का अन्त हो गया।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त में नवीन तर्क का आरम्भ हुआ, और इसके लिये इटली में ब्रूनो ने, इंगलिस्थान में बेकन ने और फ्रांस में डेकार्ट ने यत्न किया।

तृतीय काण्ड

नवीन तर्क

सप्तम अध्याय

डेकार्ट और उस के शिष्य, स्पीनोज़ा, लाईबनिट्स

—:—

सोलहवीं शताब्दी में पश्चिम में नए जीवन का आरम्भ हुआ। जीवन के हर एक भाग में हलचल उत्पन्न हुई; और लोगों ने प्राचीन विचारों और रीतियों को त्याग कर नई रीतियों के अनुसार विचार करना और जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। साइन्स की वर्तमान दशा ने यह असम्भव बना दिया था कि पहिले समयों की तरह लोग ज्ञान की सम्भावना से ही इन्कार कर दें। तर्क अब सायन्स से युद्ध नहीं कर सकता था; सायन्स से मेल करने की आवश्यकता थी। बेकन ने ऐसे तर्क के विरुद्ध जो मनुष्य के लिये लाभ दायक नहीं हो सकता, अपनी आवाज़ उठाई, और मन की कल्पनाओं के स्थान में वाह्य जगत् के पाठ की प्रेरणा की। ब्रूनो ने अरस्तु के विचारों को मिथ्या कह कर नए सिद्धान्त को स्वीकार किया और कहा कि पृथिवी ब्रह्माण्ड का मध्यस्थान होने की जगह एक छोटा सा ग्रह है, और सूर्य्य के गिर्द घूमती है; हमारे सूर्य्य की तरह और कई सूर्य्य हैं, और उन के गिर्द उन के अपने मण्डल घूमते हैं।

बेकन और ब्रूनो के नाम नवीन तर्क के इतिहास में मान के योग्य हैं; परन्तु जिस पुरुष को नवीन तर्क का पिता कहना चाहिये, वह फ्रांस का तत्त्वदर्शी डेकार्ट है।

(१) डेकार्ट (Des Cartes)

डेकार्ट (१५९६-१६५०) के तर्क को समझने के लिये यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वह एक गणितज्ञ था, जिसकी रुची तर्क की ओर थी। तर्क में उस का उद्देश्य यह है कि तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में भी गणित की रीति का वर्ताव किया जाए। वह कहता है, गणित के प्रमाणों को देख कर मुझे आश्चर्य्य हुआ कि ज्ञान के दूसरे अंगों के सम्बन्ध में इस रीति का वर्ताव नहीं किया गया। गणित में हम साधारण नियमों से आरम्भ करते हैं और बहुत सी प्रतिज्ञाओं को एक दूसरे के साथ इस प्रकार गठित कर देते हैं कि अन्तिम प्रतिज्ञा के विषय में किञ्चित मात्र भी सन्देह नहीं रहता। इसके विरुद्ध तर्क में इस प्रकार का दृढ विश्वास दिखाई नहीं देता। यदि तर्क में भी मूल नियमों की ढूंढ की जाये और उन से परिणाम निकाले जायें, और किसी बात को प्रमाण के बिना न माना जाये, तो तर्क गणित की तरह यथार्थ (exact) बन सकता है।

(२) मूल नियम

डेकार्ट ऐसे नियमों का अनुसंधान आरम्भ करता है। वह कहता है, 'जो कुछ मैं जानता हूं, अथवा ख्याल करता हूं कि मेरे ज्ञान में है, वह या तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुआ है, या दूसरों से सीखा गया है। यह दोनों साधन कई बार मिथ्या ज्ञान देते हैं, और इस लिये विश्वास के योग्य नहीं'। डेकार्ट तर्क को संशय से आरम्भ करता है, परन्तु सन्देह वादियों की तरह संशय उस के तर्क का अन्त नहीं। उस का संशय ही उसे सीधे मार्ग पर डाल देता है, और उस के लिये ज्योति का स्रोत बनता है। डेकार्ट कहता है :-

'मैं संशय करता हूं, हर एक बात के सम्बन्ध में जिस के लिये मेरे पास पूरा प्रमाण नहीं, संशय करता हूं। मुझे अपनी हस्ति की बाबत भी सन्देह है। इस सन्देह में, इस सन्देह की अपनी हस्ति निसन्देह

है। सन्देह एक प्रकार का चिन्तन है; इस लिये मैं चिन्तन करने वाला हस्ति रखता हूं *। यह पहला मूल नियम है।

मेरा सन्देह, मेरा चिन्तन और मेरी हस्ति—यह प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं, परन्तु जो कुछ मेरे ज्ञान का विषय है, वह प्रत्यक्ष नहीं। मुझे अपने से बाहिर सृष्टि प्रतीत होती है; सम्भव है कि यह मेरे मन की ही कल्पना हो। मेरा निःसन्देह ज्ञान मेरी अपनी हस्ति के ज्ञान तक ही सीमित होता, यदि मेरे विचारों में एक ऐसा विचार विद्यमान न होता, जिस का कारण मैं आप नहीं हो सकता। यह विचार परमात्मा का ख्याल है। कारण में घट से घट इतनी सत्यता (असलीयत) अवश्य होनी चाहिये, जितनी उस के कार्य्य में है। परमात्मा का विचार एक अनन्त परिपूर्ण हस्ति का विचार है। मेरा अपना मन निर्बल, सदोष, और सीमित है; और यह असम्भव है कि अनन्त परमात्मा के ख्याल को उत्पन्न कर सके। इस ख्याल का उत्पन्न करने वाला अनन्त और पूर्ण होना चाहिये। मेरे मानसिक जीवन में, इस ख्याल का विद्यमान होना इस बात का प्रमाण है कि अनन्त परिपूर्ण परमात्मा हस्ति रखता है। यह दूसरा मूल नियम है, जिस की सच्चाई में सन्देह नहीं हो सकता।

मैं जानता हूं कि (१) मेरी हस्ति है, (२) परमात्मा की हस्ति है। परमात्मा की हस्ति के ज्ञान बिना मैं अपनी हस्ति के ज्ञान से परे एक पग नहीं जा सकता था, किन्तु अब जब कि मुझे परमात्मा की हस्ति का ज्ञान हो गया है, वह दीवार जो मेरे और बाह्य जगत् के मध्य में खड़ी थी, गिरा दी गई है। परमात्मा ने मेरे मन में स्वाभाविक विश्वास उत्पन्न किया है कि बाह्य जगत् यथार्थ है। परमात्मा सत्स्वरूप है, और मुझे धोखा नहीं देता; मेरा स्वाभाविक विश्वास सच्चाई का प्रकाश करता है; इस लिये बाह्य प्राकृत

* जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, चिन्तन से चिन्तन करने वाले द्रव्य पदार्थ की हस्ति का अनुमान करने में डेकार्ट ने उत्तावली की। कई लोगों की सम्मति में चिन्तन स्वयम् वजूद रखता है, और अपने से परे किसी द्रव्य पदार्थ की साक्षी नहीं देता।

जगत् की हस्ति है। यह तीसरा मूल नियम है, जिस की सचाई में सन्देह नहीं हो सकता"।

(१) मैं हस्ति रखता हूं,

(२) परमात्मा हस्ति रखता है,

(३) प्राकृत जगत् हस्ति रखता है।

मेरा मानसिक जीवन मेरी हस्ति का साक्षी है; मेरे जीवन का एक विशेष ख्याल (परमात्मा का ख्याल) परमात्मा की हस्ति का प्रमाण है, और परमात्मा का चरित्र (सत्यभाषण) प्राकृत जगत् की हस्ति को सिद्ध करता है।

साधारण लोग परमात्मा की हस्ति का अनुमान जगत् की हस्ति वा उस की व्यवस्था से करते हैं। डेकार्ट ऐसा नहीं करता, क्योंकि उस के विचार में परमात्मा की हस्ति बाह्य जगत् की हस्ति से अधिकतर असंदिग्ध है। परमात्मा के ज्ञान से पूर्व हमें केवल अपनी हस्ति का ज्ञान होता है; और इसी से हम परमात्मा की हस्ति का अनुमान कर सकते हैं।

(३) डेकार्ट का तर्क

इन तीन नियमों की नींव पर डेकार्ट अपने तर्क का भवन खड़ा करता है। तीन द्रव्य पदार्थ हैं—परमात्मा, जीव, और प्रकृति। यदि हम द्रव्य से ऐसा पदार्थ समझें जिस की हस्ति सर्वथा स्वतंत्र है, तो केवल परमात्मा को ही द्रव्य कहना चाहिये। जीव और प्रकृति परमात्मा पर निर्भर हैं, और इस कारण से सच्चे अर्थों में द्रव्य नहीं। परन्तु वह गुण भी नहीं, और न ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। इस लिये उन्हें भी द्रव्य कह सकते हैं, यद्यपि वह सीमित हैं।

प्रकृति का विशेष गुण विस्तार है; इस में चैतन्यता नहीं। जीव का विशेष गुण चैतन्यता है; यह विस्तार रहित है। प्रकृति और जीव का स्वभाव एक दूसरे के विरुद्ध है, और उन में किसी

प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता ; न जीव प्रकृति पर प्रभाव डाल सक्ता है, न प्रकृति जीव पर।

यह डेकार्ट का सिद्धान्त है, किन्तु हम देखते क्या हैं ? मेरे आत्मा में चेष्टा उत्पन्न होती है कि अपनी जिह्वा को हिलाऊं। जिह्वा हिलने लगती है, और मैं बोलने लगता हूं। यहां आत्मा प्रकृति पर प्रभाव डालता है। दूसरी ओर मेरे शरीर में सुई चभोई जाती है ; मेरे आत्मा में ज्ञान और दुःख उत्पन्न होता है। यहां प्रकृति आत्मा पर असर करती है। प्रकृति और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकार का विचार उसकी बाबत सन्देह उत्पन्न नहीं कर सक्ता। डेकार्ट को भी तजर्बे ने विवश किया, और उसे अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रकृति और जीव में सम्बन्ध मानना पड़ा। वह कहता है कि जीवात्मा शरीर के प्रत्येक अंग के साथ सम्बन्ध रखता है, किन्तु विशेषतः इन दोनों का सम्बन्ध तृतीय चक्षु (Pineal gland) में होता है।

डेकार्ट ने जीव और प्रकृति दो भिन्न प्रकार के द्रव्यों में विश्वास किया। एक का गुण विस्तार बतलाया, दूसरे का चिन्तन ; एक में चिन्तन का अभाव कहा, दूसरे में विस्तार का।

इस सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम यह था, कि प्रकृति और जीव में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सक्ता। डेकार्ट ने यह कहा, परन्तु तजर्बे से विवश होकर उस ने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध इस सम्बन्ध को स्वीकार भी किया। जो प्रश्न उस ने उठाया था, उस का उत्तर देने में वह कृतकार्य्य नहीं हुआ, परन्तु उस के महत्त्व के लिये यही पर्य्याप्त है कि उस ने नवीन तर्क के विशेष प्रश्न को लोगों के सन्मुख रख दिया।

(४) डेकार्ट के तर्क का परिणाम

डेकार्ट के सिद्धान्तानुसार

(१) प्रकृति और जीव दो भिन्न प्रकार के द्रव्य पदार्थ हैं।

(२) उन के गुणों, चैतन्यता और विस्तार, में परस्पर विरोध है।

(३) प्रकृति और जीव एक दूसरे पर असर करते हैं, यद्यपि यह समझ में नहीं आता कि वह किस प्रकार एक दूसरे पर असर कर सकते हैं।

इस कठिनाई में निकलने का उपाय यही था कि इन प्रतिज्ञाओं में से किसी एक से इन्कार किया जावे। डेकार्ट के शिष्यों ने, जिन में मालब्रांश सब से प्रसिद्ध है, कहा, 'यद्यपि जीवात्मा और प्रकृति में परस्पर सम्बन्ध है, तथापि यह सम्बन्ध उन की अपनी शक्ति से नहीं'। स्पीनोज़ा ने एक से अधिक द्रव्य पदार्थों की हस्ति से इन्कार किया। लाईब्निट्स ने कहा कि डेकार्ट ने विस्तार को प्रकृति का विशेष गुण वर्णन करने में भूल की थी।

अब हम इन लोगों के विचारों का पाठ कुछ विस्तार से करेंगे।

(५) मालब्रांश (Malebranche)

मालब्रांश (१६३८–१७१५) ने स्वीकार किया कि जब हमारे आत्मा में चेष्टा उत्पन्न होती है, तो हमारे शरीर के अंगों में, और उन के द्वारा बाह्य प्राकृत पदार्थों में, क्रिया उत्पन्न हो जाती है; दूसरी ओर प्रकृति की क्रियाओं के कारण हमारे आत्माओं में भाव उत्पन्न होते हैं। परन्तु उस की सम्मति में इन दोनों अवस्थाओं में निमित्त कारण परमात्मा होता है। जब मेरे आत्मा में मेरी जिह्वा के हिलने के लिये चेष्टा होती है, तो परमात्मा यह क्रिया उत्पन्न कर देता है। जब सुई मेरे शरीर में चुभ कर वहां कुछ परिवर्तन करती है, तो परमात्मा मेरे आत्मा में एक विशेष अनुभव उत्पन्न कर देता है। जीव और प्रकृति केवल परमात्मा को कार्य्य करने का अवसर देते हैं। इसलिये इन्हें अवसरदायक कारण (Occasional Causes) कह सकते हैं। इस सिद्धान्त (Occasionalism) के अनुसार जिन कामों को मैं अपने काम समझता हूं, वह वास्तव में परमात्मा के काम हैं। मैं अपने हाथ को, पांव को, जगत् में छोटे से छोटे परमाणु को भी हिला नहीं सकता। बाह्य जगत् के सम्बन्ध में जितना मेरा ज्ञान है, उस समग्र का मूल कारण परमात्मा है। परमात्मा अपनी अनन्त शक्ति से प्राकृत पदार्थों को देखता है; मैं

परमात्मा की तरह चैतन्य होने के कारण इन पदार्थों के चित्रों को, जो परमात्मा के ज्ञान में विद्यमान हैं, देखता हूं ; और भूल से समझता हूं कि मैं स्वयम् प्राकृत पदार्थों को देख रहा हूं । बाह्य जगत् के पदार्थों का ज्ञान वास्तव में परमात्मा का दर्शन है, जो मैं प्रतिक्षण कर रहा हूं ।

(६) मालब्रांश के सिद्धान्त की समालोचना

मालब्रांश परमात्मा जीव और प्रकृति तीनों द्रव्यों को मानता है। इस में वह अपने गुरु से मिलता है ; परन्तु जहां डेकार्ट ने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जीव और प्रकृति के साक्षात् सम्बन्ध की शिक्षा दी थी, वहां मालब्रांश परमात्मा की सहायता का सहारा लेता है। उस की सम्मति में परमात्मा ही अकेला निमित्त कारण है। इस सिद्धान्त ने जीव और प्रकृति के सम्बन्ध की बाबत जो कठिनाई थी, उस का उपाय तो बताया, किन्तु जीव को सर्वथा अशक्त बना दिया। परमात्मा की बाबत भी जो ख्याल इस सिद्धान्त का न्याययुक्त परिणाम है, वह बहुत उच्च नहीं। यदि मैं चोरी करना चाहता हूं, तो परमात्मा मेरी सहायता के लिये हाज़िर है ; मेरे पांवों को चलाता है, मुझे दूसरे के घर पहुंचा कर मेरे हाथों को हिलाता है, इन से दूसरे का माल मेरी जेब में डलवा कर मुझे घर फेर लाता है। यदि मैं किसी को वध करना चाहता हूं, तो भी परमात्मा हाज़िर है। मेरे हाथ में चाकू पकड़ा देता है, और दूसरे की गर्दन पर रख कर इतने ज़ोर से उसे नीचे दबाता है कि दूसरे का सिर धड़ से पृथक् हो जाता है। यही नहीं कि परमात्मा मुझे पाप करता देखता है और चुप रहता है, वरंच आप मेरी पाप इच्छाओं को कार्य्यरूप में बदल देता है। यदि एक ओर मैं परमात्मा की सहायता के बिना अपनी उंगली हिलाने में असमर्थ हूं, तो दूसरी ओर परमात्मा भी मेरी आज्ञा पालन करने में विवश है।

(७) स्पीनोज़ा (Spinoza)

स्पीनोज़ा १६३२ में एम्स्टर्डम (हालैण्ड) में उत्पन्न हुआ। वह यहूदी था। प्रथम उस ने पिता के कहने पर अपने धर्म्म का

पाठ करना आरम्भ किया, किन्तु शीघ्र ही उसे ज्ञात होगया कि उस का विशेष काम तर्क का पाठ होना चाहिये। उस के सिद्धान्तों के कारण उसे जाति से बाहिर किया गया, और उस ने अपने देश को त्याग दिया। १६७७ में अति कङ्गाल अवस्था में उस का देहान्त हुआ।

स्पीनोज़ा के तर्क में द्रव्य (Substance), गुण (Attribute) और प्रकार (Mode) के सम्बन्ध में विशेषतः विचार किया गया है। वह कहता है, द्रव्य से मैं ऐसा पदार्थ समझता हूं, जो स्वतन्त्र हस्ति रखता है, और जिस का ध्यान करने के लिये किसी और पदार्थ का ध्यान नहीं करना पड़ता। गुण से मैं ऐसी वस्तु समझता हूं, जो बुद्धि को किसी द्रव्य का सार अथवा तत्त्व प्रतीत होती है। प्रकारों से मैं द्रव्य के भिन्न २ रूप-भेद समझता हूं, अर्थात् वह जो किसी दूसरे पदार्थ में ही हस्ति रखते हैं और उसी में ज्ञात होते हैं।

इन लक्षणों से हम किस परिणाम पर पहुंचते हैं? द्रव्य के लक्षण से ज्ञात होता है कि:—

(१) द्रव्य अपना कारण आप ही है। यदि ऐसा न हो, तो द्रव्य की हस्ती स्वतंत्र नहीं और वह द्रव्य ही नहीं।

(२) द्रव्य अनन्त है; क्योंकि उस का अन्त होने की अवस्था में और द्रव्य उसे घेरें गे और वह स्वतंत्र नहीं रहेगा।

(३) द्रव्य एक ही है: यदि एक से अधिक द्रव्य हों, तो वह एक दूसरे को घेर कर अपनी स्वतंत्रता को नष्ट कर लेंगे।

डेकार्ट ने एक से अधिक द्रव्य पदार्थों में विश्वास किया था, और इसी सिद्धान्त ने उसे कठिनता में डाला था। डेकार्ट ने भी जीव और प्रकृति को परमात्मा के साथ उन्ही अर्थों में द्रव्य कहने का साहस नहीं किया था। स्पीनोज़ा एक पग आगे बढ़ा और उस ने कहा कि जीव और प्रकृति किसी अर्थों में भी द्रव्य नहीं हैं।

स्पीनोज़ा कहता है कि परमात्मा की तरह परमात्मा के गुण भी अनन्त हैं। इस कथन को दो भिन्न अर्थों में समझा गया है; एक यह

कि परमात्मा के गुणों की गणना नहीं हो सकती; दूसरे यह कि यद्यपि गणना में उन का अन्त है, अपनी २ जाति में वह निःसीम हैं। हमें दो गुणों, चैतन्यता और विस्तार, का ज्ञान है। चैतन्यता जिन आकारों को ग्रहण करती है, उन्हें जीव कहते हैं; विस्तार जिन आकारों को ग्रहण करता है, वह प्राकृत पदार्थ कहलाते हैं। जीव और प्रकृति भिन्न २ प्रकार के द्रव्य नहीं, वरंच एक ही द्रव्य (परमात्मा) के भिन्न रूप हैं। परमात्मा अनन्त चैतन्यता और अनन्त विस्तार रखता है। चैतन्यता अपने अनेक रूपों में जीवात्माओं का जगत् बनाती है। विस्तर अपने प्रकारों से प्रकृति का जगत् बनता है। मनुष्य में यह दोनों प्रकार सम्मिलित हैं; इस लिये वह चैतन्य और विस्तृत दोनों जगतों को जान सकता है। परमात्मा के प्रत्येक गुण का विकाश एक जगत् है। यदि परमात्मा के गुण गणना में अनन्त हैं, तो जगत् भी अनन्त प्रकार के हैं। हम अपने स्वभाव के कारण इन दो जगतों के अतिरिक्त किसी तीसरे जगत् का चिन्तन ही नहीं कर सकते।

हमारे आत्मा में और शरीर में सम्बन्ध है, क्योंकि यह दोनों एक ही सत्य के दो गुणों के रूप हैं। डेकार्ट की कठिनता का उपाय करते हुए मालब्रांश ने जीव और प्रकृति को अशक्त बना दिया था, परन्तु उन की द्रव्य हस्ति को स्वीकार किया था। स्पीनोज़ा ने देखा कि इस प्रकार के द्रव्यों का मानना न मानना एक बराबर है, और केवल परमात्मा ही की द्रव्य हस्ति की शिक्षा दी।

स्पीनोज़ा परमात्मा को जगत् का कारण वर्णन करता है। इस से यह नहीं समझना चाहिये, कि सृष्टि से परे और पृथक् परमात्मा की कोई हस्ति है। जगत् परमात्मा का विकाश है, और जिस प्रकार दूध अपनी सफ़ेदी का कारण है, उसी प्रकार परमात्मा संसार का कारण है। कारण कार्य्य का सम्बन्ध द्रव्य और गुण का सम्बन्ध है।

संसार में जितनी चैतन्यता है, वह परमात्मा की है। साथ ही स्पीनोज़ा कहता है कि परमात्मा ज्ञान से वञ्चित है, और वह कुछ करना नहीं चाहता। ज्ञान और कर्म्म चेष्टा को परमात्मा में वर्णन

करना उसे सीमित करना है। यहां प्रतीत होता है कि स्पीनोज़ा की शिक्षा में परस्पर विरोध है। यह विरोध वास्तविक नहीं। स्पीनोज़ा कहता है कि विश्व में चैतन्यता तो है, परन्तु वह विचार और तर्क का परिणाम नहीं। जिस प्रकार मकड़ी जाला तनती है, और उसे उन आकारों का जो वह उत्पन्न करती है, ज्ञान नहीं होता; जिस तरह पशु बढ़ते हैं, चलते फिरते हैं, और उन्हें शारीरिक ज्ञान नहीं होता; इसी प्रकार विश्व अपना काम चैतन्य शक्ति की तरह करता जाता है, परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं कि वह चैतन्य है।

(८) आचार सम्बन्धी शिक्षा

आचार के सम्बन्ध में स्पीनोज़ा की शिक्षा क्या है? मनुष्य स्वतन्त्र नहीं। परमात्मा भी जो कुछ करता है (=जो कुछ संसार में होता है), वह भावि के आधीन है। ऐसी अवस्था में हम क्यों चिन्ता करें, पश्चाताप करें, अथवा क्रोधित हों? स्पीनोज़ा सारे विकारों को निर्बलता समझता है। अडोल चित होना, शिर आई को शान्ति से सहना, परमात्मा के साथ प्रेम करना—यह जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। परमात्मा से प्रेम करने को साधारण अर्थों में नहीं समझना चाहिये, क्योंकि स्पीनोज़ा का परमात्मा न आप प्यार कर सकता है, न उसे दूसरों के प्यार की आवश्यकता है। परमात्मा और विश्व एक ही हैं; परमात्मा से प्रेम करना यही है कि मनुष्य विश्व नियम को समझे, और जो कुछ होता है उसे अटल जान कर स्वीकार करे। इसी प्रकार के विचार से हम परमात्मा से मेल कर सकते हैं।

(९) लाईप्निट्स (Leibnitz)

लाईप्निट्स (१६४६-१७१६) लिपज़िक, जर्मनी, में उत्पन्न हुआ। जहां स्पीनोज़ा ने जीवन का अन्धकारमय भाग ही देखा था, वहां लाईप्निट्स ने केवल ज्योतिर्मय भाग ही देखा। उस के लिये नाना प्रकार के सुखों के सामान विद्यमान थे। स्पीनोज़ा ने कङ्गाल

होने पर भी तर्क प्रोफ़ेसर पद ग्रहण करने से इन्कार कर दिया था ; लाईब्निट्स सत्यानुसन्धान के साथ अपने लिये मान और पदों की प्राप्ति के लिये भी यत्न करता रहा । स्पीनोज़ा अति कङ्गाल अवस्था में मरा ; लाईब्निट्स, जब १७१६ में उस का देहान्त हुआ, एक अच्छे राजसी पद पर नियुक्त था । स्पीनोज़ा को उस के जीवन ने सिखलाया था कि मनुष्य के लिये सर्वोत्तम रीति दैवेच्छा को सन्तोष के साथ सहन करना है ; लाईब्निट्स का कथन था, 'जितनी सृष्टियां बननी सम्भव हैं, उन में वर्तमान सृष्टि सर्वोत्तम है, और इस में जो कुछ होता है भलाई के लिये होता है' । लाइब्निट्स के विचार में दुःख और बुराई वास्तव में अस्तित्व ही नहीं रखते ; जो त्रुटियां भागों में दिखाई देती हैं, वह समग्र के सौन्दर्य्य को बढ़ाती हैं । इस प्रकार स्पीनोज़ा और लाईब्निट्स जीवन स्थल में दो भिन्न मार्गों से प्रविष्ट हुए, और एक ने जीवन की एक छवि देखी और दूसरे ने दूसरी ।

(१०) लाईब्निट्स का सिद्धान्त

लाईब्निट्स कहता है कि डेकार्ट ने विस्तार को प्रकृति का विशेष गुण कहने में भूल की । विस्तार विस्तृत होने की इच्छा का प्रकाश है और विस्तार से पहले वह इच्छा विद्यमान होनी चाहिये । यह इच्छा एक प्रकार की शक्ति है, जो विशेषाकार ग्रहण करती है । प्रकृति का विशेष गुण विस्तार नहीं, वरंच विस्तृत होने की इच्छा और उस इच्छा को पूर्ण करने का बल है । सृष्टि में प्रत्येक परमाणु क्रिया करता है ; यह क्रिया शक्ति का प्रकाश है । चैतन्यता विस्तार से पृथक् है । डेकार्ट के आत्मा और प्रकृति में दो परस्पर विरुद्ध गुण थे, इस लिये उन में सम्बन्ध नहीं हो सकता था । स्पीनोज़ा ने एक ही द्रव्य की हस्ति में विश्वास किया और उस में चैतन्यता और विस्तार जैसे विरोधी गुण स्थापित करके विरुद्ध न्याय को तोड़ा ! लाईब्निट्स ने विस्तार की जगह शक्ति को दी, और चैतन्यता तथा शक्ति में किसी प्रकार का विरोध नहीं ।

डेकार्ट ने एक से अधिक प्रकार के द्रव्यों की शिक्षा दी थी; स्पीनोज़ा ने कहा था कि एक ही द्रव्य हो सकता है। लाईप्निट्स का मत इन दोनों से भिन्न है; उस के सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य अनगिणत हैं, किन्तु सब एक ही प्रकार के हैं। लाईप्निट्स इन द्रव्यों को चैतन्याणु (Monad) का नाम देता है। प्रत्येक चैतन्याणु में ज्ञान और शक्ति दो गुण हैं। प्रकृति कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं; जब अणु अपनी शक्ति का विस्तार करता है, तो उसे प्रकृति कहते हैं। यदि इन चैतन्य अणुओं को जीव कहें, तो लाईप्निट्स के सिद्धान्तानुसार संसार में केवल जीव ही हस्ति रखते हैं।

प्रत्येक चैतन्याणु अपनी स्वतंत्र हस्ति रखता है। लाईप्निट्स के शब्दों में इन अणुओं में कोई खिड़की नहीं जिस में से कुछ भीतर जा सके अथवा बहिर आ सके। स्पष्ट शब्दों में एक अणु दूसरे अणु पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता। यदि एक अणु में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है, तो उस के भीतर से होता है; यदि उसे ज्ञान होता है, तो अपनी अन्तरीय अवस्थाओं का होता है। प्रत्येक अणु अपने आप में एक परिपूर्ण ब्रह्माण्ड वा देवता है।

यह अणु एक दूसरे से सम्मिलित हो सकते हैं, और जितने पदार्थ हम को दिखाई देते हैं, इन अणुओं के समूह हैं। प्रत्येक अणु जीवित और चैतन्य है; सृष्टि इन अणुओं से बनी हुई है, और इस लिये इस का कोई भाग जीवन और चैतन्यता से वंचित नहीं हो सकता। प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा है, तो मट्टी के ढेले, वृक्ष, पशु में कोई भेद नहीं होना चाहिये। लाईप्निट्स उत्तर देता है कि यद्यपि सारे अणु एक ही प्रकार के हैं, तथापि वह अपने विकाश क्रम में भिन्न २ स्थानों पर हैं। कोई निम्नावस्था में है, कोई उन्नति की अवस्था में। इस के अतिरिक्त कई अवस्थायें ऐसी होती हैं, जब कि अणुओं के समूह एक मुख्य अणु के प्रभाव से एक गठित समग्र (Organic whole) बनाते हैं। जहां मुख्य अणु विद्यमान नहीं होता, अणुओं का समूह निर्जीव पदार्थ कहलाता है। मिट्टी के ढेले अथवा चांदी के टुकड़े में कोई

मुख्य अणु नहीं होता ; वृक्षों, पशुओं और मनुष्यों में मुख्याणु दूसरे अणुओं को विवश नहीं करता कि वह उस की आज्ञा में रहें। ऐसा करना उस के लिये सम्भव ही नहीं, क्योंकि एक अणु दूसरे अणु पर किसी प्रकार का भी प्रभाव नहीं डाल सकता। निकृष्टाणु अपनी प्रकृति के कारण मुख्याणु की आज्ञा में रहते हैं। वास्तव में प्रत्येक अणु चैतन्य होने के कारण आत्मा है, और आत्माओं के अतिरिक्त किसी पदार्थ की हस्ति ही नहीं ; किन्तु साधारण पुरुषों के लिये हम कह सकते हैं कि मुख्याणु आत्मा है, और दूसरे अणु शरीर हैं। इन मुख्य और निकृष्ट अणुओ के अतिरिक्त एक और अणु है, जिसे अणुओं का अणु कहा जाता है। यह परमात्मा है। सारे विश्व का प्रबन्ध उसके आधीन है। परमात्मा और सृष्टि के विषय में यह लाईप्निट्स के तर्क का सार है।

अब हम लाईप्निट्स से डेकार्ट का प्रश्न पूछते हैं। मैं किस प्रकार बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त कर सकता हूं ? लाईप्निट्स उत्तर देता है कि वास्तव में मुझे बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं होसकता, और मेरा आत्मा मेरे शरीर पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता। मुझे भ्रान्ति से ऐसा भासता है। प्रत्येक आत्मिक अणु (Monad) अपने आप में बन्द है, और अपनी अन्तरीय अवस्थाओं को ही जान सकता है। किन्तु सारे अणु एक ही प्रकार के हैं, और जो कुछ एक में होता है, वही दूसरों में भी होता है। मेरा ज्ञान आत्मज्ञान की सीमाओं में बन्द है। जितना मैं अपने आप को जानता हूं, उतना ही और इसी ज्ञान के कारण बाह्य जगत् को जानता हूं। उन्नत अणु निकृष्टाणुओं की अपेक्षा ब्रह्माण्ड के उत्तम प्रतिनिधि हैं, और अपने आप को जानने से दूसरों की अपेक्षा सृष्टि का अच्छा ज्ञान रखते हैं। आत्मा और शरीर अपनी शक्ति से एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डाल सकते, प्रत्युत परमात्मा ने आरम्भ से ही ऐसा प्रबन्ध किया है कि जब एक में परिवर्तन होता है, तो उस के मुकाबिले में दूसरे में भी परिवर्तन हो जाता है। लाईप्निट्स भी मालब्रांश की तरह आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को समझने के लिए परमात्मा की सहायता लेता है ; किन्तु इसका

सिद्धान्त मालब्रान्श का सिद्धान्त नहीं, और वह इस भेद को बड़े गौरव के साथ वर्णन करता है। वह कहता है :—

कल्पना करो कि दो घड़ियां एक साथ ठीक समय देती हैं। यह तीन प्रकार से हो सकता है :—

(१) घड़ियां एक दूसरे से ठीक समय रखवायें,

(२) दोनों एक ही पुरुष के प्रबन्ध में हों और वह सदा उन का ध्यान रक्खे,

(३) घड़ियां अच्छी बनी हुई हों, और वह ठीक समय देती जायें।

अब दो घड़ियों के स्थान में आत्मा और शरीर का चिन्तन करो। यह दोनों एक दूसरे के मुताबिक काम करते हैं।यह तीन प्रकार से हो सकता है। साधारण तर्क के अनुसार यह सम्बन्ध इस लिए है, कि वह एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं; किन्तु हम ख्याल नहीं कर सकते, कि प्रकृति के परमाणु या आत्मिक क्रिया एक में से निकल कर दूसरे में प्रवेश करते हैं। इस लिए हमें इस सिद्धान्त का त्याग करना पड़ता है। किसी चैतन्य शक्ति से सहायता लेने का विचार मालब्रान्श का सिद्धान्त है; किन्तु मेरी सम्मति में यह सिद्धान्त एक साधारण बात के लिए परमात्मा की सहायता मांगता है। वास्तविक बात यह है कि यहां भी परमात्मा उसी प्रकार से दख़ल देता है, जिस प्रकार सारे पदार्थों का प्रबन्ध करने में। इस प्रकार केवल मेरा समाधान बाक़ी रह जाता है। इस के अनुसार परमात्मा ने अपनी योग्यता से इन दोनों पदार्थों (आत्मा और शरीर) को ऐसा पूर्ण, विधि पूर्वक और ठीक बनाया है कि प्रत्येक अपने नियमों के अनुसार काम करता है, और दोनों में ऐसी एकता है जैसी उनके एक दूसरे पर प्रभाव डालने से अथवा परमात्मा के सदैव हस्तक्षेप करने से हो सकती थी।

एक और स्थान पर लाईब्निट्ज़ लिखता है :—

न्यूटन और उसके अनुयाई परमात्मा और उसके काम के सम्बन्ध में विचित्र सम्मति रखते हैं। उनके विचार में आव-

श्यक है कि परमात्मा अपनी घड़ी को कभी २ चाबी लगाता रहे, नहीं तो वह घड़ी खड़ी होजयगी। इस विचार के अनुसार परमात्मा के पास इतनी बुद्धि नहीं थी जिस से यह सदैव ठीक चलती रहे। यही नहीं, इनके सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा की कला ऐसी भद्दी और दोष युक्त है कि वह इसे विशेष रूप से साफ़ करने और जीर्णोद्धार करने में विवश होता है।

मेरे सिद्धान्त के अनुसार शरीर काम करते हैं, जैसे वह आत्माओं के अभाव की अवस्था में काम करते; आत्मा काम करते है, जैसे वह प्रकृति के अभाव की अवस्था में करते; और दोनों इस प्रकार काम करते हैं, जिस प्रकार एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ने की अवस्था में करते।



अष्टम अध्याय

परीक्षात्मक तर्क

लाक, बार्क्लि, ह्यूम

डेकार्ट ने आत्मा और प्रकृति दो द्रव्यों की हस्ति की शिक्षा दी थी, और साथ ही कहा था कि इन दोनों के गुणों में परस्पर विरोध होने से इन में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता। डेकार्ट से लाईप्निट्स तक तर्क ने यत्न किया कि उस सम्बन्ध का, जो हम आत्मा और प्रकृति में देखते हैं, समाधान करें। जैसा हम ने देखा है, मालब्रान्श ने इस सम्बन्ध को समझने के लिए परमात्मा का सहारा लिया, और कहा कि केवल परमात्मा ही निमित्त कारण है; स्पीनोज़ा ने कहा कि परमात्मा ही एक द्रव्य है, और चैतन्यता और विस्तार एक ही द्रव्य के गुण होने से विरोधी नहीं ; लाईप्-निट्स ने एक ही प्रकार के अनेक द्रव्यों, आत्मिक अणुओं, की हस्ति की शिक्षा दी, और विस्तार की जगह शक्ति को उनका गुण वर्णन करके उस विरोध को, जो स्पीनोज़ा के द्रव्य के गुणों में विद्यमान था, दूर किया।

इन लोगों के सिद्धान्तों में कुछ भेद था, परन्तु इनकी अणुवेषण रीति एक ही थी। वह पूर्ववत अनुमान से जानना चाहते थे, कि द्रव्य क्या है और द्रव्यों की बाहुल्यता की अवस्था में उनका परस्पर सम्बन्ध किस तरह समझ में आसकता है? उन्हों ने कल्पना कर ली थी कि इन बातों की बाबत ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की बुद्धि के वश में है। इस समय पर एक मनुष्य ने कहा कि हमें ऐसी

कल्पना करने का कोई अधिकार नहीं। मनुष्य की बुद्धि को सब से पहिले यह जानना आवश्यक है कि वह क्या जान सकती है? दूसरे पदार्थों की बाबत पूछने से पहिले बुद्धि को अपनी शक्तियों की बाबत पूछना चाहिये। यह पुरुष लाक, एक इङ्गलिस्तान का रहने वाला, था। उस ने नवीन तर्क का एक नया युग आरम्भ किया, और इङ्गलिस्तान का तर्क आज तक उसी मार्ग पर चल रहा है, जिस पर लाक ने इसे डाला था। लाक ने तर्क को परीक्षात्मक (Critical) बना दिया। लाक के प्रश्न पर उस से पीछे बार्क्लि और ह्यूम ने विचार प्रकट किये। इन लोगों से पूर्व तर्क के इतिहास में ग्रेटब्रिटेन का नाम लग भग विलुप्त है; इन लोगों के विचारों ने उसे इस इतिहास में मान का स्थान दे दिया है। आश्चर्य्य यह कि उन में एक (लाक) खास इङ्गलिस्तान में, दूसरा (बार्क्लि) आयरलैंड में, और तीसरा (ह्यूम) स्काटलैंड में उत्पन्न हुआ।

(१) लाक (Locke)

अनुभवैकवाद

पराचीन यूनान में अफ़लातूं ने कहा था कि जब जीवात्मा संसार में आता है, तो उस में कई प्रकार के भाव विद्यमान होते हैं। इस जन्म से पूर्व जीवात्मा ने आकारों का दर्शन किया है, और इस जन्म का बोध पिछले पाठ का स्मरण करना ही है। नवीन तर्क में लाईब्निट्स ने कहा था कि जीवात्मा (आत्मिकाणु) अपने से बाहर कुछ जान नहीं सकता; उसका सारा ज्ञान उसके अन्दर से उत्पन्न होता है। इन विचारों के विरुद्ध लाक (१६३२-१७०४) ने कहा कि जीवात्मा का सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है; और इस जन्म के अनुभवों से पूर्व आत्मा की अवस्था ऐसे काग़ज की तरह होती है, जिस पर कुछ लिखा हुआ नहीं। हर एक प्रकार के नैसर्गिक भावों और अन्तर उत्पन्न ज्ञान की हस्ति से इन्कार करने और अनुभव को सारे ज्ञान का स्रोत बताने से लाक नवीन तर्क में अनुभवैकवाद की नींव रखने वाला है।

हमारा ज्ञान हमारे अनुभवों तक सीमित है। चाहे मनुष्य का आत्मा तारों से भी ऊंचा उड़जावे, यह अपने अनुभवों के चक्कर से बाहर नहीं जासकता। यह अनुभव दो प्रकार के हैं :— एक वह जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होते हैं, दूसरे वह जिन को आत्मा अपनी अवस्थाओं का ध्यान करने से प्राप्त करता है। पहिली प्रकार के अनुभव बाह्य जगत् का ज्ञान देते हैं, और उनके ग्रहण करने में हम परतन्त्र हैं। यदि हम नेत्र खोलें, तो यह हमारे वश में नहीं कि हम कुछ देखें या न देखें। हम किसी अमिश्रित अनुभव को अपनी कल्पना से घड़ नहीं सकते। अन्धा अपने सारे मानसिक बल से नीले अथवा पीले रंग को अनुभव नहीं कर सकता; बह॥ा नहीं जान सकता कि शब्द क्या है। किन्तु यह मनुष्य के वश में है कि वह भिन्न २ अमिश्रित अनुभवों को मिलाकर नए मिश्रित भाव उत्पन्न करले। मैं ने ६०० मील लम्बा, सात शिरों वाला पुरुष नहीं देखा, परन्तु मैं ऐसे पुरुष को चिन्तन कर सकता हूं। मैं ने साधारण पुरुष देखा है, और मैं अनेक हाथों, टांगों आदि के बराबर एक हाथ टांग आदि की कल्पना कर सकता हूं, और एक धड़ पर एक के स्थान में ७ शिर लगा सकता हूं। इसी प्रकार मैं एक ऐसे जीवधारी का ध्यान कर सकता हूं, जिस का शिर मनुष्य का है, धड़ बैल का है, पुछ गधे की है, और पांव मोर के हैं। जिस प्रकार शिल्पकार अपनी सामग्री को उत्पन्न नहीं करता, वरंच उसे ग्रहण करके एक विशेष परिपाटी में लाकर एक भवन तय्यार करता है, इसी प्रकार हम अमिश्रित अनुभवों को ग्रहण करके उन्हें विशेष रीतियों से मिलाते हैं, और नए मिश्रित अनुभव बनाते हैं। इस से अधिक हमारे वश में नहीं है।

मिश्रित अनुभवों के बनाने के लिए जीवात्मा में निम्न लिखित शक्तियों का होना अवश्यक है :—

(१) उपलब्धि, (Perception); मैं एक फूल को देखता हूं।

(२) स्मृति (Memory); जब वह पुष्प मेरे सामने नहीं रहता, तो भी मैं उसका चिन्तन कर सकता हूं।

(३) विवेक (Discernment); फूल को पुस्तक से भिन्न जानता हूं।

(४) भेद अभेद विचार, (Comparison); मैं किसी दूसरे पदार्थ के साथ पुष्प का ध्यान करके उन में मेल और भेद की बातों को जानता हूं।

(५) संपर्क (Composition); कुत्ते की पुच्छ, हस्ती का शिर और मनुष्य के धड़ को भिन्न २ स्थानों में देखने के पश्चात्, मैं एक ऐसे जीवधारी का चित्र खींचता हूं, जिस में यह सारे अंग मिले हुए हैं।

(६) व्यापर्क (Abstraction); मैं ने पीले रंग को पीले पदार्थों से पृथक कभी नहीं देखा, किन्तु अपने ध्यान में इसे दूसरे गुणों से पृथक्क कर लेता हूं; या बहुत से कुत्तों को देख कर कुत्ते का सामान्य प्रत्यय बनाता हूं, जिस में विशेष कुत्तों की विलक्षणताएं विद्यमान नहीं।

इन सब शक्तियों में लाक व्यापर्क को सर्वप्रधान शक्ति वर्णन करता है। उसकी सम्मति में पहिली पांच शक्तियां पशुओं में भी पाई जाती हैं, किन्तु व्यापर्क केवल मनुष्य को ही मिला है। कौआ बिल्ली को देखता है, बिल्ली सामने न हो तो भी उसका चित्र उसके मन में हो सकता है, बिल्ली को दूसरे पदार्थों से भेद करता है, तीन बिल्लियों को दो बिल्लियों से अधिक समझता है; किन्तु उसे ३ और २ का ज्ञान नहीं। बाह्य जगत् में ३ घोड़े व ३ कुरसियां व ३ रोटियां विद्यमान हैं; अकेला ३ कहीं विद्यमान नहीं। कौआ किसी विशेष जाति के ३ पदार्थों को देख सकता है और उनका चिन्तन कर सकता है; तीन का सामान्य प्रत्यय बनाना उसकी शक्ति से बाहिर है।

(२) द्रव्य का प्रत्यय

मिश्रित प्रत्ययों में एक प्रसिद्ध प्रत्यय द्रव्य का है। यह किस प्रकार हमारे मन में आता है? अमिश्रित अनुभवों के सम्बन्ध में हम चिन्तन नहीं कर सकते कि किस प्रकार यह स्वतन्त्र हस्ति रख सकते हैं, या एक दूसरे के लिए सहारा बन सकते हैं। हम इनके लिए एक कारण या सहारा कल्पना करते हैं, और उसे द्रव्य का नाम देते हैं। हमारा ज्ञान हमारे अनुभवों अथवा प्रत्ययों से परे नहीं जाता; किन्तु हम इन प्रत्ययों को किसी द्रव्य के गुण कल्पित करने में विवश होते हैं। जैसा यह प्राकृत जागत् के विषय में यथार्थ है, वैसा ही आत्मिक जगत् की अवस्था में भी है। प्रकृति के विषय में हम इस से अधिक नहीं जानते कि वह आकार, विस्तार आदि गुणों का आधार है। आत्मा के विषय में हम इस से अधिक नहीं कह सकते कि वह प्रत्यक्ष, स्मृति, सुख दुःख आदि का आधार या स्रोत है। द्रव्य के तत्व अथवा शुद्ध स्वरूप के विषय में हम सर्वथा अन्धेरे में हैं।

डेकार्ट की तरह लाक परमात्मा, जीव, और प्रकृति तीन द्रव्यों की हस्ति में विश्वास करता है। जीव की हस्ति में सन्देह करना ही उसकी हस्ति का प्रमाण है। यदि मैं बाकी सारे पदार्थों की हस्ति में सन्देह करूं, तो यह सन्देह ही मुझे मेरी अपनी हस्ति का पता दे देगा, और मुझे अपनी हस्ति की बाबत सन्देह करने की आज्ञा नहीं देगा। मैं एक बना हुआ पदार्थ हूं, परमात्मा मेरा बनाने वाला है। परमात्मा की हस्ति का ज्ञान कारण कार्य्य के विचार से उत्पन्न होता है। प्रकृति की हस्ति का ज्ञान संवेदन (Sensation) से होता है; इस लिए इस ज्ञान में भी कारण कार्य्य के विचार का प्रभाव है।

डेकार्ट ने एक विशेष विचार (परिपूर्ण परमात्मा का विचार) से परमात्मा की हस्ति का अनुमान किया था : लाक सारे आत्मिक जीवन से यह अनुमान करता है। डेकार्ट ने परमात्मा के स्वभाव (सत्य भाषण) से बाह्य जगत् की हस्ति का अनुमान किया था;

लाक संवेदन को इस जगत् की हस्ति का साक्षी समझता है, किन्तु इस सम्बन्ध में परमात्मा को सर्वथा अलग भी नहीं छोड़ देता। आकृत पदार्थ मेरे आत्मा में संवेदन उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु यह बात कि एक विशेष पदार्थ एक विशेष संवेदन उत्पन्न करता है और सदा वही संवेदन उत्पन्न करता है, ईश्वरीय नियम के कारण से है। जिह्वा पर खांड रखने से मुझे राग सुनाई नहीं देता, न ही पीले रंग का बोध होता है, वरंच मीठे स्वाद का अनुभव होता है। कारण यह है कि परमात्मा ने खांड को इसी संवेदन के उत्पन्न करने की शक्ति दी है।

(३) मुख्य और गौण गुण

प्राकृत पदार्थों की क्रिया से जो अनुभव हमारे आत्मा में उत्पन्न होते हैं,वह दो प्रकार के हैं(१)मुख्य(२)गौण। पहिली श्रेणी में विस्तार, आकार, ठोसपन,विभक्तियोग्य और क्रिया योग्य होना है। दूसरी श्रेणी में रंग, गन्ध,रस और शब्द सम्मिलित हैं। साधारण पुरुष इन गुणों में भेद नहीं करता और दोनों प्रकार के गुणों को बाह्य पदार्थों के गुण जानता है। लाक कहता है कि मुख्य गुणों के अतिरिक्त किसी प्राकृत पदार्थ की स्थिति नहीं होसकती, और यह गुण वास्तव में प्राकृत पदार्थों में विद्यमान हैं। किन्तु गौण गुण हमारे आत्मा की अवस्थाएं हैं, जो बाह्य पदार्थ अपने मुख्य गुणों के कारण उत्पन्न करते हैं। फूल का आकार और विस्तार फूल में हैं; रंग और गन्ध मेरे आत्मा में हैं। फूल के परमाणु अपनी गठित और परिपाटी के कारण इन अवस्थाओं को उत्पन्न करते हैं और आत्मा के बाहिर इन गुणों की कोई हस्ति नहीं।

विपक्षी कहेगा कि गौण गुणों की तरह मुख्य गुण भी हमारी आत्मिक अवस्थाएं ही हैं; सारा प्राकृत जगत् भ्रान्ति है। लाक उत्तर देता है कि हमारा आत्मा अपनी शक्ति से किसी अमिश्रित अनुभव को बना नहीं सकता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पुरुष देख सकता है कि बाहिर से ग्रहण किए हुए अनुभवों

में और अल्पना में कितना भेद है । जलते हुए कोइले के हाथ पर पड़ने से जो ज्ञान होता है, वह उस अवस्था के चिन्तन से सर्वथा भिन्न है । बाह्य जगत् की हस्ति में लाक का तीसरा प्रमाण यह है कि इस के सम्बन्ध में ज्ञान इन्द्रिय एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। जो पुरुष अग्नि को देखकर विचार करता है कि वह एक कल्पना का चिन्तन कर रहा है, वह अपना हाथ आगे बढ़ाए और उसे पता लग जायगा कि यथार्थ क्या है।

(४) आत्मिकज्ञान की सीमा

ज्ञान की नींवों के अतिरिक्त लाक ने अपने सामने यह प्रश्न रक्खा था कि हमारा ज्ञान कहां तक जा सकता है ? ज्ञान दो अनु-भवों अथवा प्रत्ययों के मेल या भेद का जानना है, और इस लिए हमारे प्रत्ययों से परे नहीं जसकता। पहिले तर्किकों ने इस रहस्य को नहीं समझा और इस लिए अपना समय असाध्य प्रश्नों का उत्तर ढूंडने और देने में खोते रहे । हम जानते हैं कि प्रकृति की हस्ति है, किन्तु हम नहीं कह सकते कि प्रकृति के लिए जड़ होना आवश्यक है । परमात्मा के लिए प्रकृति का चैतन्य बनाना सम्भव है, यद्यपि हम ने कभी चैतन्य प्रकृति को नहीं देखा । हम जानते हैं कि जीव हस्ति रखता है, परन्तु हम नहीं कह सकते कि वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्राकृत है अथवा अप्राकृत है। हमारे पास परमात्मा की हस्ति के लिए प्रमाण है, परन्तु परमात्मा का स्वरूप एक अथाह समुद्र है, और उसके विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। अनुभव हमारा अकेला गुरु है। इस से परे जाने का यत्न ऐसा ही व्यर्थ है, जैसा अपने आप से परे भागने का यत्न करना है। अनुभव ज्ञान का समझना ही तर्क का उद्देश्य है।

(५) बार्क्लि (Berkeley)

जार्ज बार्क्लि १६८५में आयरलैंड में उत्पन्न हुआ। ट्रिनिटी कालेज, डबलिन, में शिक्षा ग्रहण की और कुछ वर्ष अपने देश में रह कर

लन्डन में आया। यहां सब प्रकार की सोसाइटी के पुरुषों ने उसका स्वागत किया। उसका आचार आदर्श आचार था; एक लेखक की सम्मति में यह कहना कठिन है, कि वह मानसिक योग्यता में बड़ा था, या हृदय की पवित्रता में। यूरुप की यात्रा में वह फ्रांस में गया, और वहां बूढ़े माल्ब्रान्श से, जिसकी आयु ८० वर्ष के लग भग थी, उसकी कुटिया में जाकर तर्क पर शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में इतना जोश बढ़ गया कि उसके प्रभाव से बेचारे माल्ब्रान्श का देहान्त होगया। १७२४ में बार्क्लि को चर्च पद मिला। उसका वार्षिक वेतन ११०० पौंड (१६५०० रुपया) था। बार्क्लि ने इस पद को त्याग दिया; और १०० पौंड वार्षिक की प्रतिज्ञा पर उत्तरस्थ अमेरिका के असभ्य लोगों को ईसाई बनाने के लिए घर से बाहिर निकला। इस यात्रा में इसकी स्त्री इसके साथ थी। बहुत सी पुस्तकें और अपनी सम्पत्ति का बड़ा भाग साथ ले गया। राज्य ने अपने प्रण को पूरा न किया, और बार्क्लि ७ वर्ष के पीछे अपनी सम्पत्ति का बड़ा भाग व्यय करके अपने देश में आगया। १७३४ में वह क्लाइन का बड़ा पादरी बनाया गया। १७५२ में ऑक्सफोर्ड में एक दिन सायंकाल जब कि वह पढ़ रहा था, अकस्मात् उसके हृदय की क्रिया बन्द होगई, और वहीं उसका देहान्त हो गया।

(६) लाक और बार्क्लि

बार्क्लि एक धार्म्मिक पुरुष था, और उसका तर्क विशेषतः धर्म्म के रंग में रंगा हुआ है। उसका आदर्श यह है कि सन्देह वाद और नास्तिकता का खण्डन करके ज्ञान और आस्तिकता को न हिलने वाली भित्ति पर स्थित कर दे। जहां लाक ने तर्क का अन्त किया, वहां बार्क्लि आरम्भ करता है। बार्क्लि की अपनी शिक्षा में लाक का प्रभाव प्रसिद्ध है। उसका तर्क लाक के तर्क की वृद्धि और समालोचना है। बहुधा बार्क्लि लाक के परिणामों को स्वीकार करता है; किन्तु इन परिणामों को अर्द्ध सच्चाइयां जानकर उन से एक पग आगे जाता है।

जैसा हमने देखा है, लाक के तर्क में निम्न लिखित सिद्धान्त नियत करने का यत्न किया गया था :—

(१) हमारा ज्ञान अनुभवों तक सीमित है। हमें द्रव्य प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु हम विविश होते हैं कि गुणों के लिए एक हस्ति कल्पना करें। इस प्रकार द्रव्य का अनुभव एक सामान्य प्रत्यय है।

(२) प्रकृति की अपेक्षा अपने आत्मा का ज्ञान हमें अधिक सुगमता से होता है, और अधिक निश्चित होता है।

(३) प्राकृत पदार्थों के गौण गुण वाह्य जगत् में हस्ति नहीं रखते। यह हमारे आत्मा की अवस्थायें हैं और उनका निमित्त कारण वाह्य जगत् के पदार्थ हैं।

(४) मुख्य गुणों के सम्बन्ध में यह ईश्वरीय नियम के कारण से है कि विशेष गुण एक विशेष अनुभव उत्पन्न करता है।

लाक ने व्यापर्क को मनुष्यात्मा की सर्व प्रधान शक्ति माना था। इस के विरुद्ध बार्क्लि कहता है कि हम कोई सामान्य प्रत्यय (abstract idea) बना ही नहीं सकते; हमारे सारे प्रत्यय वशिष्ट होते हैं। मैं देवदत्त वा राम लाल का ध्यान कर सकता हूं, किन्तु मनुष्य का जो कोई वशिष्ट मनुष्य नहीं, चिन्तन नहीं कर सकता। मुझे नारङ्गी में गोलाई, पीलापन आदि दिखाई देते हैं, किन्तु मैं उस द्रव्य का चिन्तन नहीं कर सकता जिसे उन गुणों से परे और उनका आधार बताया जाता है। * लाक ने कहा था, कि वाह्य जगत् की तरह आन्तरीय जगत् के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान अनुभवों से परे नहीं जाता, और आत्मिक द्रव्य की हस्ति में

* जाति और व्यक्ति की हस्ति और उनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रश्न पुराना प्रश्न है। जैसा हमने देखा है, अफ़लातूं की सम्मति में जाति ही वास्तव में सत्य है। यही परिपूर्ण है और अनादि है; व्यक्तियां इसकी असम्पूर्ण और दोष युक्त नकलें हैं।

हम इस लिये विश्वास करते हैं, कि हम उपलब्धि, स्मृति, सुख, दुःख, आदि की स्वतन्त्र हस्ति का चिन्तन नहीं कर सकते और उनके लिए एक आधार की अवश्यकता अनुभव करते हैं। बार्कलि कहता है कि मानसिक द्रव्य का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। मैं अपने अनुभवों को ही नहीं जानता, किन्तु यह भी जानता हूं कि वह अनुभव मेरे अनुभव हैं। अपनी द्रव्यक हस्ति के ज्ञान के लिए मुझे किसी अनुमान की आवश्यकता नहीं: यह प्रत्यक्ष है। इसके विरुद्ध प्रकृति की द्रव्यक हस्ति न प्रत्यक्ष है, और न अनुमान से सिद्ध हो सकती है। हम गुणों को वाह्य जगत् में कल्पना करके समझते हैं कि हमें वाह्य प्राकृत पदार्थों की हस्ति में विश्वास करना चाहिये। बार्क्लि कहता है कि गुणों को आत्मा से बाहिर कल्पना करना ही एक अयथार्थ कल्पना है और यह हमारी ठोकर का कारण है। हम आप धूल उड़ाते हैं और पीछे कहते हैं कि हमें दिखाई नहीं देता। वास्तविक यह है, कि मुख्य और गौण गुण

जाति सारी व्यक्तियों से परे विद्यमान है। अरस्तु जाति की हस्ति में विश्वास करता है, परन्तु इसे व्यक्तियों से बाहिर मानने के स्थान में वह इसे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर समझता है, और उस की सम्मति में इसी कारण से एक पदार्थ एक जाति में सम्मिलित होता है, और दूसरी में नहीं होता। अफ़लातूं और अरस्तु का सिद्धान्त जाति स्वातंत्र्य वाद (Realsim) है। लाक की सम्मति में जाति न तो व्यक्तियों से बाहिर अनादि हस्ति रखती है, न ही उन में से प्रत्येक में विद्यमान है। इस की हस्ति कल्पना में है। हम अनेक पदार्थों को देख कर उनके सामान्य गुणों का ध्यान करते हैं, और सामान्य प्रत्यय बनाते हैं। लाक का सिद्धान्त सामान्य प्रत्यय सत्ववाद (Conceptualism) है: बार्क्लि एक पग आगे जाता है और कहता है कि जाति की हस्ति हमारी कल्पना में भी नहीं होती। जब कभी हम कल्पना करते हैं, वह कल्पना व्यक्ति की होती है। जाति तो एक शब्द है, जो बहुत सी व्यक्तियों के लिए व्यवहार में आता है। बार्क्लि का सिद्धान्त नामवाद (Nominalism) है।

दोनों हमारे मन की अवस्थायें हैं और उनमें कोई भेद नहीं। इस प्रकार बार्क्ले प्रकृति की मन से बाहिर स्वतन्त्र हस्ति से इनकार करता है।

(७) प्रकृति के अभाव में प्रमाण

प्रकृति के अभाव में बार्क्ले का प्रमाण क्या है? जैसा हम ने देखा है, पहिली बात जिस पर बार्क्ले ज़ोर देता है, यह है कि प्राकृत द्रव्य का विचार सर्वथा कल्पना है; हमें केवल गुणों का ज्ञान होता है। अब प्रश्न यह है कि इन गुणों का स्थान कहां है? पहिले हम गौण गुणों को लेते हैं। साधारण पुरुष कहेगा, कि रंग गन्धादि आत्मा से बाहिर विद्यमान हैं। थोड़ा सा तर्क भी बता देता है, कि यह विचार यथार्थ नहीं। बाह्य जगत् में एक पदार्थ है। मैं उसके पास से गुज़रता हूं, और नाक बन्द कर लेता हूं। गृद्ध दूर से उसकी मनोरञ्जक सुगन्धि से आकृष्ट होकर उसकी ओर आता है। तीसरा जीवधारी पास से गुज़र जाता है और उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। एक पुरुष मेरे रुपमाल को हरा देखता है; मैं यर्कान के कारण उसे पीत देखता हूं; तीसरा पुरुष वर्णान्ध (Colour blind) होने से उसे श्वेत समझता है। इसी प्रकार एक ही पुरुष भिन्न २ अवस्थाओं में एक ही पदार्थ से भिन्न २ अनुभव ग्रहण करता है। अब यदि यह गुण बाहर अस्तित्व रखते हैं, तो हमें मानना पड़ता है कि वह एक ही देश और काल में एक से अधिक भिन्न या विरोधी रूप धारण करते हैं। यह हमारी बुद्धि स्वीकार नहीं करती। यदि यह कहा जाय कि वास्तविक रंग और गन्ध हम में से किसी ने नहीं जाना, तो बार्क्ले उत्तर देता है, कि वह ऐसे गुण को जिसका ज्ञान किसी जीवधारी को नहीं, नहीं समझ सकता। यह एक सामान्य प्रत्यय है। यदि इन अनुभवों में एक अनुभव बाह्य गुण का वास्तविक ज्ञान है, तो हम निश्चय नहीं कर सकते कि वह अनुभव कौन सा

अनुभव है ; और हम सन्देह वाद के दलदल में फंस जाते हैं। इन विचारों से विवश होकर हम को गौण गुणों की वाह्य हस्ति से इनकार करना पड़ता है।

इतना लाक ने भी स्वीकार किया था, किन्तु वह इस से आगे नहीं बढ़ा। बार्क्लि कहता है, कि गौण गुणों की तरह मुख्य गुण भी हमारे भीतर ही हैं। उसका प्रमाण यह है :—

(१) जो कुछ गौण गुणों के वाह्य अस्तित्व के विरुद्ध कहा जाता है, वही मुख्य गुणों की ऐसी हस्ति के विरुद्ध भी कह सकते हैं; जिस प्रकार एक पदार्थ को भिन्न २ देखने वाले भिन्न २ रंगों में देखते हैं, उसी प्रकार यह पदार्थ भिन्न २ आकारों में भी दिखाई देता है। दूर से एक पहाड़ी साफ प्रतीत होती है, निकट आने पर ऊंची नीची दीखती है। एक पत्थर का टुकड़ा पास से साफ (हमवार) दिखाई देता है, अणुदर्शक यन्त्र की सहायता से खुर-दरा प्रतीत होता है। विस्तार के सम्बन्ध में जो पत्थर का टुकड़ा मुझे छोटा प्रतीत होता है, वह एक छोटे जीवधारी को एक पर्वत दिखाई देता है। अब प्रश्न यह है, कि यह टुकड़ा बड़ा है या छोटा ? विपक्षी कहेगा कि बड़ा छोटा सापेक्ष शब्द हैं। यदि हम इनका व्यवहार ही न करें, तो भी इतना तो कह सकते हैं कि उसका विस्तार है। बार्क्लि कहता है कि उसे ऐसे विस्तार की जो न बड़ा है न छोटा, समझ नहीं आती। यह एक सामान्य प्रत्यय है, और वह ऐसा प्रत्यय बना नहीं सकता।

(२) हमारा अनुभव हमें बताता है कि गौण और मुख्य गुण इकट्ठे रहते हैं। हम किसी पदार्थ के विस्तार आकार आदि गुणों को उसके गन्ध रंगादि से पृथक नहीं कर सकते। इस लिए, जहां एक प्रकार के गुण हैं, वहीं दूसरी प्रकार के गुण हैं। गौण गुणों के सम्बन्ध में स्वीकार किया गया है, कि वह हमारे मन में ही हस्ति रखते हैं; इस लिए मुख्य गुण भी वहीं निवास करते हैं।

प्रत्येक प्राकृत पदार्थ इन दोनों प्रकार के गुणों का समूह है। यह गुण मेरे मन में हैं, एतएव सारे प्राकृत पदार्थ मेरे मन में ही हैं। मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा देश, पृथिवी, सूर्य्यमण्डल, और उस से परे के तारामण्डल—सारा प्राकृत जगत् मेरे मन में है।

एक ही चक्कर से मनुष्यात्मा के सामने सारा दृश्य किस प्रकार बदल जाता है!

बार्क्लि के सिद्धान्त ने पश्चिम के आने वाले तर्क पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला, किन्तु उस के सहयोगियों को उस के विचार की पूरी महानता ज्ञात नहीं हुई। उन्हों ने इस सिद्धान्त को सम्यक् विचार के योग्य ही नहीं समझा। जिन लोगों को यह भी ज्ञान नहीं था कि तर्क किस पक्षी का नाम है, वह बार्क्लि के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए हंस देना पर्य्याप्त समझते थे। कई 'विचारे तार्किक बार्क्लि' पर उसके विचारों के लिए दया करते थे। कई पांव से एक ठोकर लगाते थे और समझते थे कि इस ठोकर से बार्क्लि का विचार छिन्न भिन्न होजाता है। कई उसे कहते थे 'कूप में गिर कर देख ले कि बाह्य जगत् हस्ति रखता है या नहीं'।

(८) ज्ञानेन्द्रियों की साक्षी

बार्क्लि का सिद्धान्त क्या है? इस के विषय में बार्क्लि की अपनी सम्मति और उसके विरोधियों की सम्मति में भेद है। उसके विरोधी कहते हैं कि वह वास्तविक पदार्थों को भावों में परिवर्तित करता है; बार्क्लि कहता है कि वह लोगों की केवल भावनाओं को वास्तविक पदार्थों में परिवर्तित करता है। विपक्षी कहता है कि बार्क्लि का सिद्धान्त ज्ञानेन्द्रियों की साक्षी के विरुद्ध है; बार्क्लि कहता है कि वह प्रत्येक अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों की साक्षी में विश्वास करता है, और उसका सिद्धान्त ही सन्देह वाद से बचने का अकेला मार्ग है। जब मैं समझता हूं, कि मैं अपने सन्मुख भाई को देख रहा हूं, और दूसरा पुरुष वहां केवल

एक वृक्ष देखता है, तो प्राकृत पदार्थों की बाह्य हस्ति में विश्वास करने की अवस्था में हम यह मानने में विवश होते हैं कि हमारे ज्ञानेन्द्रिय हमें यथार्थ ज्ञान नहीं देते; किन्तु चेतन वादियों के लिए यहां कोई कठिनाई नहीं। मेरा भाई भी विद्यमान है और वृक्ष भी; मेरा भाई मेरे मन में, और वृक्ष मेरे साथी के मन में। मेरा अनुभव मेरे लिये सत्यज्ञान का स्रोत है; मेरे साथी का अनुभव उसके लिए। साधारण बोल चाल में हम कहते हैं, कि हम दश पुरुष कमरे में एक कुरसी को देखते हैं। यथार्थ यह है कि यहां दश कुरसियां हैं और उनमें से प्रत्येक एक वशिष्ट पुरुष के ज्ञान में है। यदि इन पुरुषों में से दो पुरुष नेत्र बन्द कर लें और कुरसी का चिन्तन न करें, तो दो कुरसियों का नाश हो जाता है। कमरे में पांच पुरुष और आजायें*, तो पांच नई कुरसियां उत्पन्न होजाती हैं। किसी प्राकृत पदार्थ के अस्तित्व का अर्थ यही है कि किसी मन को उसका ज्ञान है।

(२) परमात्मा की हस्ति में प्रमाण

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्यों कभी मेज़ का अनुभव मेरे मन में उत्पन्न होता है, और कभी कुरसी का? बार्क्लि का उत्तर है कि मेरा इन्द्रियज्ञान मेरी इच्छा पर निर्भर नहीं; इस के सम्बन्ध में मैं परतन्त्र हूं। इस के मुकाबले में अपनी कल्पनाओं की बाबत मैं देखता हूं कि मैं अपनी इच्छा से उन्हें मानसिक जगत् में ला सकता हूं। मेरे ज्ञान के यह दो भाग स्पष्ट बताते हैं कि इनका निमित्त

---

* बार्क्लि के सिद्धान्तानुसार कमरे में प्रवेश करना निरर्थिक शब्द हैं, तो भी हम इन्हें बर्ताव में लाते हैं, जिस प्रकार अब भी हम सूर्य्य के उदय और अस्त होने का वर्णन करते हैं। बार्क्लि कहता है, हमारी भाषा सर्व साधारण की भाषा होनी चाहिये, और हमारे विचार बुद्धिमानों के विचार होने चाहियें।

कारण एक नहीं। जहां मेरी कल्पनायें मेरे आधीन हैं, वहां मेरा इन्द्रिय ज्ञान मुझे मिलता है; मैं इसे बाहिर से प्राप्त करता हूं। इस भाग का निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर बार्क्लि के तर्क का एक आवश्यक अंग है। प्राप्त ज्ञान का कारण स्वतः अनुभव नहीं हो सकते, क्योंकि भाव सर्वथा अस्मर्थ्य होने से कारण नहीं बन सकते। यदि हम मान भी लें कि कोई अचेतन द्रव्य अस्तित्व रखता है, तो भी वह हमारे ज्ञान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान से वञ्चित कारण ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। जो कुछ कार्य्य में विद्यमान है, वह कारण में भी विद्यमान होना चाहिये। इस कठिनाई से एक ही बचाव हो सकता है, और वह यह है कि हम अपने से अतिरिक्त किसी और आत्मा की हस्ति में विश्वास करें जो हमारे प्राप्त ज्ञान का कारण हो। साधारण पुरुष भी बार्क्लि की तरह प्राप्त ज्ञान के लिए निमित्त कारण की आवश्यकता अनुभव करते हैं; किन्तु जहां वह अचेतन प्रकृति को इसका कारण समझते हैं, वहां बार्क्लि ऐसे स्वतन्त्र पदार्थ के अस्तित्व से इनकार करके एक पृथक् आत्मा को इस ज्ञान का कारण बताता है। बार्क्लि के सिद्धान्त में केवल आत्मा ही निमित्त कारण हो सकता है।

हमारा प्राप्त ज्ञान हमारी कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है; उस में नियम बद्धता दिखाई देती है। इन चिन्हों से वह हमारी कल्पना से साफ़ पृथक् प्रतीत होता है। इस भेद का कारण यह है कि जो आत्मा हमारे प्राप्त ज्ञान का कारण है, वह हमारे आत्मा की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् है। वह अपनी कृपा से इस ज्ञान को विवस्था और नियम में रखता है ताकि हम भूत को देखकर भविष्यत का अनुमान कर सकें।

परमात्मा के सम्बन्ध में स्पीनोज़ा ने द्रव्य के प्रत्यय पर ज़ोर दिया था; बार्क्लि कारण के प्रत्यय का सहारा लेता है।

इस विषय में बार्क्लि एक और विचार भी हमारे सन्मुख रखता है। जब मैं कमरे में प्रवेश करता हूं, मैं मेज़ को देखता हूं; जब कमरे से बाहिर जाता हूं, तो जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मेज़ नाश होजाता है। मैं फिर लौट कर आता हूं, और मेज़ विद्यमान हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या मेज़ का अस्तित्व लगातार बना रहता है, या मेरे ज्ञानान्तर में उसकी हस्ति नहीं रहती ? मेरा मन कहता है कि मेज़ का अस्तित्व बना रहता है। मेज़ के अस्तित्व के अर्थ यह हैं, कि यह किसी द्रष्टा के ज्ञान में हो। इन कालान्तरों में मैं या कोई और सीमित अल्पज्ञ आत्मा कमरे में विद्यमान न था*। इस लिए इन सीमित अल्पज्ञात्माओं के अतिरिक्त एक ऐसे आत्मा की आवश्यकता है, जो मेज़ को जान कर उसे अस्तित्व प्रदान करे। जो कुछ इस मेज़ के विषय में कहा गया है, वही शेष पदार्थों के विषय में कहा जा सकता है। जो कुछ वर्तमान की बाबत सत्य है, वह भूत और भविष्यत की बाबत भी कहा जासकता है। परमात्मा के अस्तित्व के साथ ही हमें उसके नित्य और सर्वव्यापक होने का प्रमाण मिलता है।

(१०) अल्पज्ञात्मा

बार्क्लि के सिद्धान्तानुसार मेरे आत्मा के अतिरिक्त और भी अल्पात्मा हैं। इनकी हस्ति का ज्ञान मुझे उन क्रियाओं और इन्द्रियों के मिलाप से होता है जो मैं अपनी अवस्था में भी देखता हूं। मैं जानता हूं कि मेरी क्रियायें मेरे आत्मा की क्रियायें हैं। जब मैं अपने शरीर से बाहिर इन क्रियाओं जैसी क्रियायें देखता हूं, तो मैं अनुमान करता हूं कि इनका कर्ता भी एक आत्मा है। सारा इन्द्रिय ज्ञान परमात्मा की इच्छानुसार होता है : दूसरे आत्माओं की हस्ति का अनुमान इन्द्रिय ज्ञान से होता है ; इस लिये इस ज्ञान में भी

---

* यहां बार्क्लि कल्पना करता है, कि यदि कोई सीमित मन कमरे में होता, तो उसके साथ एक शरीर (?) बंधा होता और मुझे उसका ज्ञान होजाता।

परमात्मा का हाथ है। बार्क्लि के शब्दों में परमात्मा ही आत्माओं में वह सम्बन्ध स्थिर रखता है, जिस से वह एक दूसरे का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

जीवात्मा एक अमिश्रित पदार्थ है, इस लिये उसका विच्छेद नहीं होसकता। शरीर से उसका सम्बन्ध आवश्यक नहीं; इस लिये शरीर के नाश होने (?) पर इस का नाश नहीं होजाता; यह अमर है।

(११) चेतनवाद (प्रकृति अभाव वाद) के लाभ

बार्क्लि के सहयोगी उसपर उसके सिद्धान्त के कारण हंसते थे। बार्क्लि आप समझता था कि उसने मनुष्य के आत्मा को दलदल से निकाल कर सीधे मार्ग पर डाल दिया है। उसकी सम्मति में उसका सिद्धान्त साइन्स, तर्क, आचार और धर्म सब के लिये लाभ कारी है।

साइन्स का पाठ करने वाले बहुत समय ऐसे व्यर्थ प्रश्नों के विचार करने में व्यतीत कर देते हैं, जैसे क्रिया और प्रशान्त का वास्तविक स्वरूप क्या है? किसी रेखा के अनन्त भाग हो सकते हैं या कहीं जाकर हम को ठहरना पड़ता है? चेतनवाद (Immaterialism) के अनुसार इन प्रश्नों का उत्तर सुगमता से देसकते हैं। क्रिया और प्रशान्त अपने आप में दो सामान्य प्रत्यय हैं और इस लिये उनकी कोई हस्ति नहीं है। किसी रेखा के भाग उतने ही होसकते हैं, जितने हम देख सकते हैं। यदि छोटी से छोटी लकीर जो मैं देख सकता हूं, $\frac{१}{१०००}$ इञ्च है, तो मुझे कहना चाहिये कि १ इञ्च लम्बी रेखा के १००० भाग होसकते हैं, १००१ नहीं होसकते।

तर्क के सम्बन्ध में तार्किक पूछते रहे हैं कि हमें बाह्य पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है या नहीं?। प्रकृति और जीव में क्या सम्बन्ध है? प्रकृति चेतन हो सकती है या नहीं?।

अब यह सारे प्रश्न वृथा प्रतीत होते हैं। हमारा इन्द्रिय ज्ञान सारा यथार्थ है। बाह्य जगत् वही है जो हमारे ज्ञान में है। हम इसे बाह्य जगत् कहते हैं, क्योंकि इसके सम्बन्ध में हम परतन्त्र हैं और यह एक दूसरे आत्मा पर निर्भर है। जब प्रकृति की कोई स्वतंत्र हस्ति ही नहीं,तो जीवात्मा के साथ इसके सम्बन्ध की बाबत विचार करना ही व्यर्थ है। बार्क्लि कहता है कि उसका सिद्धान्त ही संशय वाद का एकमात्र उत्तर है।

आचार के सम्बन्ध में इस से अधिक फल दायक कौनसा सिद्धान्त हो सकता है कि परमात्मा प्रतिक्षण हमारे साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है? वह कहीं दूर आकाश में निवास नहीं करता, हम उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकते; प्रत्युत जीवन के प्रत्येक अंग में जब हम देखते या सुनते हैं, हम उस के प्रभाव में हैं।

धर्म्म की सब से बड़ी सेवा नास्तिकता का खण्डन है। बार्क्लि कहता है कि उस ने अस्तिकवाद को एक ऐसी दृढ़ चटान पर स्थित कर दिया है जहां से कोई युक्ति उसे हिला नहीं सकती। दूसरे लोग सृष्टि की बनावट और उसके सौन्दर्य्य से परमात्मा के अस्तित्व का अनुमान करते हैं और विपक्षियों को आक्षेप करने का अवसर देते हैं। बार्क्लि परमात्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिये किसी विशेष आविर्भाव को हमारे सन्मुख नहीं रखता, वरंच कहता है कि सारा दृश्य जगत् (हमारा इन्द्रियज्ञान) परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है।

(१२) बार्क्लि के सिद्धान्त की समालोचना

बार्क्लि का सिद्धान्त भाव प्रधान वाद (Idealism) का एक मनोरञ्जक रूप है। किन्तु जैसा पीछे ह्यूम ने कहा, यद्यपि बार्क्लि की युक्तियों का खण्डन करना कठिन है, वह विश्वास उत्पन्न नहीं करतीं। यहां हम संक्षेप से बार्क्लि के सिद्धान्त के दो तीन निर्बल पार्श्वों की ओर सङ्केत करते हैं। हम उस चक्कर का

जो मन को लगाना पड़ता है, वर्णन कर चुके हैं। सर्व साधारण के लिये चेतन वाद को स्वीकार करने के मार्ग में यह सब से बड़ी रोक है। बारक्लि कहता है कि उसका सिद्धान्त वही है, जो सामान्य बुद्धि कहती है। सामान्य बुद्धि इस प्रतिज्ञा को स्वीकार नहीं करती। सामान्य बुद्धि की साक्षी क्या है? इसकी बाबत सामान्य बुद्धि और बारक्लि की सम्मति में भेद है, और स्पष्ट है कि इस भेद की अवस्था में सामान्य बुद्धि अधिक विश्वास के योग्य है।

बारक्लि का तर्क विशेषतः आस्तिक तर्क है, और बारक्लि का मुख्य उद्देश्य नास्तिकता का खण्डन करना है। किन्तु क्या वास्तव में उसके प्रमाण ने आस्तिकवाद को एक दृढ़ चटान पर स्थान दे दिया?

जैसा हम ने देखा है, बारक्लि के प्रमाण के दो भाग हैं :—

(१) हम अपने आत्मा की प्रकृति के कारण यह मानने में विवश होते हैं, कि हमारे ज्ञान के अवकाशों में पदार्थ नाश नहीं हो जाते। उस समय उनका द्रष्टा परमात्मा होता है।

(२) हमारे ज्ञान का एक भाग (इन्द्रिय ज्ञान) हमें बाहर से प्राप्त होता प्रतीत होता है। हम आप उसके कारण नहीं। कारण शक्ति केवल आत्माओं में है, इस लिए यह ज्ञान एक बाह्य आत्मा की क्रिया का परिणाम है। यह ज्ञान हमारी अपनी कल्पना की अपेक्षा अधिक स्पष्ट अधिक व्यवस्थित, अधिक स्थिति रखने वाला और अधिक तुल्य और दृढ़ होता है। इसलिए हम अनुमान करते हैं कि हमारे ज्ञान के इस भाग का कारण परिपूर्ण परमात्मा है।

पहिले मुख्य की बाबत यह बात विचार के योग्य है, कि बारक्लि ने इस मानसिक व्यवस्था का, जिस के कारण हम पदार्थों के लगातार अस्तित्व में विश्वास करते हैं, कोई समाधान नहीं किया। सम्भव है, हमारा आत्मा ऐसा विचार करने में अयथार्थ विचार करता हो, और वास्तव में इन पदार्थों की

हस्ति हमारे ज्ञान के कालान्तरों में स्थित न रहती हो। दूसरे मुष्य की बाबत कहा जा सकता है, कि हम अपने आत्मा को ही अपने सारे ज्ञान का कारण और स्रोत चिन्तन कर सकते हैं। हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता, परन्तु कौन कह सकता है कि उसे आत्मा की सारी शक्तियों और सम्भावनाओं का पूरा ज्ञान है?

अल्पात्माओं की बाबत जो कुछ बार्क्लि ने कहा है, वह भी सन्तोष जनक नहीं। बार्क्लि का विचार है, कि हम दूसरे मनुष्यों के शरीरों और उनकी क्रियाओं को देखकर अनुमान करते हैं, कि हमारे आत्मा की तरह उनके शरीरों में भी जुड़े हुए आत्मा हैं, और वही उन क्रियाओं के कारण हैं।

बार्क्लि का विचार सर्व साधारण का भी विचार है, परन्तु यह यथार्थ नहीं प्रतीत होता। बाह्य शरीर और क्रियायें जो हमारे शरीर और हमारी क्रियाओं से मिलती हैं, अन्यात्माओं का ज्ञान प्राप्त करने का साधन नहीं, किन्तु हमारे ज्ञान को, जो और प्रकार से प्राप्त होता है, परखने का एक साधन है। आरम्भ में बालक इस प्रकार युक्ति नहीं कर सकता, जिस तरह इस सिद्धान्त में कल्पना किया गया है। वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि चैतन्य और अचैतन्य का भेद बच्चे के आत्मा में आरम्भ में विद्यमान नहीं होता। बालक सारे पदार्थों को जिन से वह अपने आपको घिरा हुआ देखता है, अपने जैसा चिन्तन करता है। कुछ बड़ा होता है तो कई पदार्थों को प्रकार में अपने से भिन्न जानने लगता है, और उन्हें चैतन्य पदार्थों की सूची से अच्युत कर देता है। परन्तु उसके पश्चात् भी वह गुड़िया से खेलता है, और यदि पत्थर से उसे ठोकर लगे, तो पत्थर को दण्ड देता है। यह चैतन्य जानने और बनाने का स्वभाव कभी २ युवकों और वृद्ध पुरुषों में भी जाग पड़ता है, जब वह अपनी छड़ी या चाकू से नाराज़ होजाते हैं। इस प्रकार अन्य जीवात्माओं का ज्ञान सादृश्य प्रमाण से नहीं होता, वरंच उस चैतन्य बनाने की चेष्टा से जो हमारे आत्मा का स्वभाव है, उत्पन्न होता है। हम अपने जगत् से चैतन्य पदार्थों का चुनाव

नहीं करते; प्रत्युत चैतन्य कल्पना किये हुए जगत् से उन पदार्थों को जिन्हें हम अचैतन्य पाते हैं, निकाल देते हैं, और जो कुछ पीछे रह जाता है, वह चैतन्य होता है। किन्तु इस बात को छोड़ कर कि बार्क्लि का विचार यथार्थ है या वह समाधान जो ऊपर दिया गया है, हमारी प्रतिज्ञा तो यहां यह है कि बार्क्लि के तर्क में एक से अधिक जीवात्माओं की आवश्यकता नहीं। यदि लहलहाता हुआ वृक्ष अपनी बनावट और शब्द के होने पर भी उन अनुभवों का समूह समझा जा सकता है, जो परमात्मा एक विशेष समय पर हमारे आत्मा में उत्पन्न करता है, तो इसी न्याय के अनुसार अन्य पुरुष भी विशेष दृश्यों, शब्दों और क्रियाओं के समूह समझे जासकते हैं। मेरा आत्मा और परमात्मा मेरे सारे ज्ञान के समाधान के लिए पर्य्याप्त हैं। इसके विरुद्ध कहा जासकता है, कि मनुष्य एक दूसरे के साथ संसर्ग और सम्वाद करते हैं, और यह व्यवहार अहम बाद का खण्डन करता है। बाह्य पदार्थों की हस्ति के विरुद्ध बार्क्लि कहता है, कि स्वप्न में और बीमारी में हम कई बार ऐसे पदार्थों को देखते हैं जिन का अस्तित्व हमारे ज्ञान से बाहर नहीं होता। यह युक्ति हम बार्क्लि के विरुद्ध वर्ताव में ला सकते हैं। स्वप्न में और बीमारी में हम बहुधा आप ही प्रश्न करते हैं और आप ही उत्तर देते हैं। सम्भव है, हमारा वर्तमान जीवन भी स्वप्न की तरह हो, और यह केवल दैवघटना ही हो कि हमारा स्वप्न व्यवस्थित है और हमारे प्रश्नोत्तर एक दूसरे के अनुसार होते हैं, जैसे जीवों की बाहुल्यता की अवस्था में होते।

(१३) ह्यूम (Hume)

लाक की तरह ह्यूम का तर्क भी परिक्षात्मक है। उस तर्क के स्थान में जो द्रव्य और गुण सम्बन्धी व्यर्थ शास्त्रार्थ में अपने बल को खोता है, और जिसे सर्व साधारण उसके समझ में न आने से ही उत्तम ज्ञान जानते हैं, ह्यूम प्रेरणा करता है कि मनुष्य की

बुद्धि अपने ज्ञान के स्रोत और अपनी शक्तियों की सीमा के विषय में जानने का यत्न करे, सब से लाभ दायक प्रश्न यह है कि हम क्या जान सकते हैं और हमारे आत्मा की शक्तियां क्या हैं ?

यह पाठ करते हुए ह्यूम आरम्भ में ही कहता है कि मनुष्य का आत्मा अपनी अवस्थाओं से पृथक् किसी वस्तु को नहीं जान सकता। लाक ने स्वीकार किया था कि हमहारा साक्षात् (Direct) ज्ञान हमारे अनुभवों तक सीमित है; किन्तु उसने कहा था कि इन अनुभवों के उत्पन्न करने के लिए वाह्य जगत् विद्यमान है।। बार्क्लि ने वाह्य प्राकृत जगत् की हस्ति से इन्कार किया था, परन्तु आत्मिक द्रव्य की हस्ति की शिक्षा दी थी। बार्क्लि के विचार में प्रत्येक आत्मा अपनी द्रव्यक हस्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान रखता है; अन्यात्माओं का अस्तित्व अनुमान से जाना जाता है। ह्यूम बार्क्लि के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करता, और कहता है कि जिस प्रकार वाह्य जगत् का सारा ज्ञान गुणों का ज्ञान है, उसी प्रकार आन्तरीय जगत् के सम्बन्ध में भी हमारा समग्र ज्ञान अवस्थाओं का ज्ञान है। जब कभी मैं अपने आत्मा को पकड़ने का यत्न करता हूं, तो मेरे हाथ में एक वा दूसरी अवस्था आती है: आत्मा, द्रव्य पदार्थ, दिखाई नहीं देता। लाक ने प्रकृति को गौण गुणों से वञ्चित बताया था; बार्क्लि ने मुख्य गुणों को भी आत्मिक अवस्थायें वर्णन करके सारा अस्तित्व आत्माओं और उनके भावों तक सीमित कर दिया। ह्यूम ने अन्तिम पग उठाया और द्रव्य के अस्तित्व से इन्कार करके कहा कि सारा जगत् अवस्थाओं का ही समूह है। यह विचार शून्यवाद (Nihilism) अथवा द्रव्य अभाव वाद (Phenomenalism) कहलाता है*। जब हम अपने ज्ञान की परिक्षा करते हैं। हम उस

* आर्यवत के तर्क में बौद्ध लोगों का सिद्धान्त ह्यूम के सिद्धान्त से मिलता है। बौद्ध भी आत्मा को केवल ज्ञान धारा मानते हैं। आश्चर्य्य यह कि बौद्धों की ज्ञान धारा और ह्यूम के अनुयाइयों की Stream of Consciousness दोनों एक ही शब्द हैं।

में दो भाग दिखलाई देते हैं :—(१) उत्पन्न (Impression), (२) चित्र (Idea)। उत्पन्न स्पष्ट होते हैं; चित्र उनसे न्यून स्पष्ट हैं। उत्पन्नों के विषय में सर्व साधारण का विचार है कि यह बाह्य पदार्थों के चित्र हैं। क्या यह वास्तव में ऐसा ही है ? ह्यूम कहता है कि बुद्धि कुछ उत्तर नहीं देती। क्या हम इतना तो कह कसते हैं कि बाहर कुछ है, यद्यपि हमारे उत्पन्न उसकी नकल नहीं ? ह्यूम कहता है कि बुद्धि इसका भी उत्तर नहीं देती। हमारे उत्पन्न एक अन्तिम प्राप्त समग्री हैं। हमारे चित्र और प्रत्यय किसी न किसी उत्पन्न के चित्र हैं। यदि उत्पन्न का अभाव है, तो इन का भी अवश्य अभाव होगा।

कोई जन्म का अन्धा पीले रंग का चित्र नहीं बना सकता। कोई बधिर सुरीले शब्द का चिन्तन नहीं कर सकता। जो कुछ हम सीखते हैं, अपने उत्पन्नों और चित्रों से सीखते हैं। यदि हम अपने विचारें में आकाश से भी ऊपर उड़ जायें, तो भी अपनी अवस्थाओं से किञ्चित मात्र परे नहीं जा सकते। हमारे अपने उत्पन्न और उनके चित्र ऐसी दीवारें हैं जिन से परे हमारे लिये सब कुछ घोर अन्धकार है।

(१४) कारण क्या है ?

जिस प्रकार लाक के तर्क में द्रव्य का प्रत्यय प्रधान है, उसी प्रकार ह्यूम के तर्क में कारण कार्य्य का प्रत्यय प्रधान है। ह्यूम से पूर्व साधारण पुरुष और तार्किक कारण को शक्ति रूप में मानते थे, और समझते थे कि कारण अपने बल से कार्य्य को उत्पन्न करता है। ह्यूम कहता है कि कोई प्रत्यय अथवा चित्र अपने उत्पन्न के बिना नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार वह कारण के प्रत्यय की परीक्षा करता है। साधारण विचार के अनुसार कारण कार्य्य का सम्बन्ध तीन अवस्थाओं में प्रगट होता है :—

(१) हम देखते हैं कि मोम अग्नि के निकट आकर पिघलने लगती है, और चुम्बक लोहे को आकृष्ट करता है ;

(२) अपनी अवस्था में हम देखते हैं,कि जब हम चाहते हैं अपने शरीर के किसी अंग को कृति देते हैं । मेरे मन में इच्छा उत्पन्न होती है और मैं बोलने लगता हूं :

(३) मैं चेष्टा करता हूं कि एक विशेष विचार मेरे मन में उत्पन्न हो, और वह विचार विद्यमान होजाता है । मैं चाहता हूं कि मेरे भाई का चित्र मेरे सामने आजावे और ऐसा ही हो जाता है ।

ह्यूम कहता है कि इन अवस्थाओं में उसे शक्ति कहीं दिखाई नहीं देती । पहिली अवस्था में वह केवल यह देखता है कि एक दृश्य दूसरे दृश्य के पश्चात् आता है। जब अग्नि और मोम का अन्तर थोड़ा हो जाता है, तो इस घटना के पीछे मोम की अवस्था में परिवर्तन होता है । इसी प्रकार चुम्बक का लोहे के निकट आना एक घटना है और लोहे का आकृष्ट होना दूसरी घटना है । इनमें एक दूसरी के पश्चात् संघटित होती है । दूसरी और तीसरी अवास्थाओं में भी यही होता है । भेद केवल इतना है कि जहां पहिली अवस्था में दोनों घटनायें प्राकृत दृश्य थे; वहां दूसरी अवस्था में एक मानसिक है और दूसरी अमानसिक, और तीसरी अवस्था में दोनों घटनायें मानसिक हैं । सारे कारण कार्य्य सम्बन्धों में जो कुछ हम देखते हैं वह पूर्व पश्चात् का सम्बन्ध है। एक दृश्य दूसरे से पीछे आता है : शक्ति की कोई हस्ति नहीं, न हमें उसका कोई ज्ञान हो सकता है । शक्ति के अस्तित्व से इन्कार करके ह्यूम लाईब्निट्स से जो प्रत्येक स्थान में शक्ति का ही प्रकाश देखता है, सर्वथा विपरीत ओर को जाता है ।

यहां एक प्रश्न होता है ; यदि दृश्यों में किसी प्रकार का आवश्यक सम्बन्ध नहीं, जिसके कारण एक दूसरे को उत्पन्न करता है, और हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हमारा भूत काल का ज्ञान ऐसा है,तो हम भविष्यत की बाबत अनुमान क्यों करते है ? हमारा अनुभविक ज्ञान भूत काल की बाबत होता है ; यदि यह ज्ञान हमारा अकेला गुरु है, तो दस हज़ार बार भी एक घटना को

दूसरी के पीछे आता देखकर हम यह कहने का अधिकार नहीं कि आगे भी ऐसा होगा। हमारे प्रत्येक अनुमान की नींव में यह विश्वास होता है, कि जगत् का प्रवाह एक प्रकार से चल रहा है और भविष्यत भूत के समान होगा। इस मूल नियम को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण बर्ताव में नहीं लाया जासकता। यह नियम नैसर्गिक (Intuitive) भी नहीं, क्योंकि ह्यूम के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का सारा ज्ञान अनुभविक है। यह क्या रहस्य है?

ह्यूम कहता है, 'मेरा सारा पाठ इस प्रश्न पर प्रकाश डालने में असमर्थ हुआ है, और विचार के पीछे मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि जिस तरह प्रकृति ने हमें कर्मेन्द्रियों का बर्ताव सिखलाया है, परन्तु इस के लिए पट्ठों और नाड़ियों का ज्ञान देना आवश्यक नहीं समझा; इसी प्रकार प्रकृति ने हमारे आत्मा में एक सहज बुद्धि (Instinct) उत्पन्न की है, जिसके कारण हम वर्तमान काल से आगे जा सकते हैं, और पिछले ज्ञान की सहायता से भविष्यत की बाबत प्रतिज्ञा कर सकते हैं। आश्चर्य्य यह है कि प्रकृति के प्रवाह और हमारी आत्मिक अवस्थाओं के क्रम में एक अद्भुत अनुकूलता है, और ऐसा बहुत कम होता है कि हमें झूठा नबी बनना पड़े'।

किन्तु यद्यपि हमारा विश्वास है, कि प्राकृत नियम का कार्य्य सदैव होता रहेगा और भविष्यत भूत की तरह होगा, तथापि इस विश्वास के लिए बुद्धि के पास कोई हेतु नहीं। यदि हम कल्पना करें कि प्राकृत नियम का राज नहीं रहेगा, कल अग्नि मोम को नहीं पिघलाएगी, और चुम्बक लोहे को आकृष्ट नहीं करेगा, तो ऐसी कल्पना में हम किसी आत्मिक नियम (Law of thought) को उलङ्घन नहीं करते। ऐसी कल्पना सम्भव है। ह्यूम यह नहीं कहता कि हम अपनी नैसर्गिक बुद्धि पर भरोसा न करें और जगत् में इस तरह विचरें, मानों संसार में नियम का राज होना आवश्यक ही नहीं। वह तार्किक को प्रेरणा करता है, 'तार्किक बनो, किन्तु अपने तर्क के विचारों में मनुष्य बने रहो'।

वह कहता है, कि सच्चा तार्किक जब अपनी विचार कोटि से निकलता है, तो आप भी दूसरों के साथ मिलकर अपने परिणाम पर हंसता है। ह्यूम का उद्देश्य मनुष्यों की शोचनीय अवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट करना है, जो सारी आयु बाह्य जगत् की हस्ति और उसमें नियम के राज्य को कल्पना करके विचरते और काम करते हैं, किन्तु इन विश्वासों को युक्ति से सिद्ध नहीं कर सकते। मनुष्यों की बुद्धि और उनका सहज ज्ञान (Instinct) उन्हें दो विरुद्ध मार्गों में ले जाते हैं, और मनुष्य इस पर किञ्चित्मात्र विचार नहीं करते !

(१८)कारण कार्य्य का सम्बन्ध

कारण कार्य्य के सम्बन्ध में दो प्रश्न विचार के योग्य हैं :—

(१) इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ?

(२) इस सम्बन्ध का ज्ञान हमें किस प्रकार से होता है ?

जैसा हमने देखा है, पहिले प्रश्न की बाबत ह्यूम का विचार है कि कारण और कार्य्य दो घटनायें हैं, जिन में से एक पहिले आती है और दूसरी पीछे। इससे अधिक उन में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

कारण कार्य्य नियम के दो भाग हैं :—

(१) प्रत्येक कार्य्य उत्पत्ति के लिए एक कारण की आवश्यकता है।

(२) यदि एक अवसर पर क, ख का कारण है, तो हालात में परिवर्तन न होने की अवस्था में क सदा ख का कारण होगा, अर्थात् भविष्यत् भूत के समान होगा।

इन दोनों नियमों के ज्ञान की बाबत ह्यूम का और दूसरे अनुभवैक वादियों का विचार है, कि हम उन्हें अनुभव से सीखते हैं। इसके विरुद्ध सहज ज्ञानवादि कहते हैं कि यह नियम मनुष्य के आत्मा में आरम्भ से ही विद्यमान होते हैं। जीवात्मा अपने भीतर

इसका दृष्टांत करता है ; बाहर से इन्हें ग्रहण नहीं करता। इस प्रतिज्ञा की पुष्टि में एक युक्ति यह दी जाती है कि जो नियम अनुभव की नींव पर स्थापित होते हैं, समय व्यतीत होने पर उन में हमारा विश्वास अधिक दृढ़ होता जाता है : परन्तु कारण कार्य्य के नियम की अवस्था में मेरा विश्वास जितना आज दृढ़ है, उतना ही १० वर्ष पहिले था। इन दोनों विचारों का मेल करने के लिए नवीन तर्क में विकाश वाद (Evolution) के अनुयायी कहते हैं कि हमारे पूर्वजों ने यह नियम अनुभव से जाने थे, किन्तु बीज परम्परा (Heredity) के नियम के अनुसार अब यह हमारे स्वभाव का भाग बन गए हैं और नैसर्गिक हैं।

सार यह है, कि—

अनुभविक वादियों की सम्मति में कारण कार्य्य नियम का ज्ञान अनुभव से होता है ;

सहज ज्ञान वादियों की सम्मति में हमारे आत्मा की बनावट ही ऐसी है कि हमें इस नियम में विश्वास करना पड़ता है ;

विकाश वादियों की सम्मति में इस नियम का ज्ञान पहिले अनुभव का परिणाम था, अब नैसर्गिक है।



नवम अध्याय

काण्ट (Kant)

(१) जीवन

काण्ट (१७२४-१८०४) कानिग्ज़बर्ग (जर्मनी) में उत्पन्न हुआ। अपने नगर की यूनीवर्सिटी में शिक्षा ग्रहण करके उस ने पढ़ाने का कार्य्य आरम्भ किया। १७७० में प्रोफ़ैसर बनाया गया, और २७ वर्ष तर्क की शिक्षा देता रहा। आयु भर उसने अपने सूबे से बाहर पग नहीं रक्खा। उसका जीवन अति साधारण था। एक लेखक लिखता है, कि उसके एक दिन के कार्य्य क्रम को ३० में गुणा करने से उस के एक मास का जीवन ज्ञात हो जाता है; फिर उसे १२ के साथ गुणा करें, तो एक वर्ष का जीवन हमारे सन्मुख आजाता है। उसके उठने का समय, चाय पीने का समय, सैर का समय, सैर का मार्ग, साथी इत्यादि सब कुछ नियत था; और वह अपनी दिन चर्य्या में ऐसा नियमबद्ध था, कि कई पुरुष तो उसे सैर को जाता देख कर अपनी घड़ियां ठीक किया करते थे। वह सारी आयु कुमार रहा और इस लिए गृहस्थ के बन्धनों ने उसके ज्ञान ध्यान के जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली। काण्ट का जीवन प्राचीन यूनानियों का आदर्श जीवन था। एक बात में वह त्याग वादियों के आदर्श से भिन्न था; वह यह कि उसका जीवन शुष्क न था, वरंच उसका स्वभाव प्रफुल्लित था, और वह एक सुख वर्द्धक साथी था। जब अस्सी वर्ष की आयु में काण्ट का देहान्त हुआ, तो उसका नाम बड़े आदर का नाम था। उसके पीछे आने वालों ने भी एक दूसरे से बढ़कर उसकी प्रशंसा की है। एक कहता है कि काण्ट की शिक्षा आर्य्य बुद्धि की पूर्ण यौवन की सन्तान है। दूसरा कहता

है कि काण्ट का दमाग़ प्रकृति का सब से बहुमूल्य भाग था, जो प्रकृति ने अपने परिवर्तन से उत्पन्न किया। ऐसी सम्मातियां देने वाले साधारण पुरुष नहीं, वरंच आप भी बड़े २ तार्किक हुए हैं; और काण्ट के शिष्य नहीं, वरंच कई अवस्थाओं में उस के सिद्धान्त का खण्डन करने का यत्न करते रहे हैं। जो पदवी संस्कृत नाटक में कालिदास की और अङ्ग्रेज़ी नाटक में शेक्सपियर की है, वही पदवी नवीन तर्क में काण्ट की है। उस के पीछे का तर्क उसकी शिक्षा के रंग में रंगा हुआ है, और उसका मुख्य काम काण्ट के मत का खण्डन वा मण्डन करना है। केवल एक सम्प्रदाय प्रत्यक्षैकात्मकदर्शन(Positivism) अपवाद है; और इस सम्प्रदाय का संस्थापक (Comte) भी कहता है, 'मैं सदा काण्ट को एक प्रबल विचार शील पुरुष समझता रहा हूं। यही नहीं, वरंच मेरी सम्मति में तत्ववेताओं में वही सब से अधिक हमारे सिद्धान्त के निकट आता है'।

(२) काण्ट का तर्क

आत्मिक जीवन ३ भागों में विभक्त होता है :—(१) ज्ञान (२) क्रिया (३) विकार। यह तीनों एक ही आत्मा के प्रकाश हैं। आत्मा एक ऐसा राजा है जो तीन देशों में भिन्न २ नामों से उन देशों के नियमों और व्यवस्था के अनुसार राज्य करता है।

काण्ट अपनी समीक्षा के ३ भाग करता है :—

(१) शुद्धबुद्धि (Pure Reason) की समीक्षा।

(२) कृत्यबुद्धि (Practical Reason) की समीक्षा।

(३) नियामकबुद्धि (Judgment) की समीक्षा।

अब हम संक्षेप से इन तीनों का वर्णन करेंगे।

(३) शुद्धबुद्धि की समीक्षा

तर्क के विचार से काण्ट के जीवन के दो भाग होते हैं।

पहिले भाग में उस पर लाईब्निट्स और बुल्फ का प्रभाव था और उसका तर्क युक्ति निरपेक्षवाद है। इस निद्रा से, जैसा काण्ट आप कहता है, ह्यूम ने उसे जगाया और इस जागृति के पीछे उसका तर्क परीक्षात्मक है। अब जब हम काण्ट के तर्क का वर्णन करते हैं, तो हमारा अभिप्राय परीक्षात्मकवाद से होता है।

काण्ट के तर्क के सामने मुख्य प्रश्न यह है :—'ज्ञान की सम्भावना किस तरह होती है ? किन हालात में हम कुछ जान सकते हैं'? काण्ट कहता है कि जब हम इस प्रश्न का उत्तर दे चुकेंगे, तो ज्ञान के विषय और ज्ञान की सीमा की बाबत विचार करने के योग्य होंगे। काण्ट से पहिले इस प्रश्न के दो विरोधी उत्तर दिए गए थे। लाक ने कहा था कि मनुष्य का सारा ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है, और अनुभव से पूर्व मनुष्यात्मा एक कोरे कागज़ की तरह होता है। लाईब्निट्स ने कहा था कि आत्मा अपने से बाहर कुछ जान नहीं सकता; आत्मिक अणुओं में कोई खिड़की नहीं, जिस में से कुछ भीतर आ सके वा बाहर जा सके। काण्ट कहता है कि इन दोनों विचारों में सत्य और मिथ्या दोनों अंश मिले हुए हैं। अनुभवैक वादि अनुभव अथवा संवेदन पर ज़ोर देते हुए यह भूल गये थे कि एक निर्बुद्धि पुरुष अपने संवेदनों की सहायता से भी कुछ ज्ञान नहीं रखता। सहज ज्ञानवादी आत्मिक क्रिया पर ज़ोर देते हुए भूल गए थे कि एक अन्धा अपने सारे आत्मिक यत्न पर भी नीले वा पीले रंग का बोध प्राप्त नहीं कर सकता। दोनों ने सचाई के एक अंग को ग्रहण किया था, किन्तु दूसरे अंग की ओर से चक्षु बन्द कर लिए थे। परीक्षात्मक तर्क ज्ञान की बनावट में दोनों अंगों को स्वीकार करता है, और कहता है कि एक भाग बाहर से आता है, दूसरा अन्दर से। द्रव्य अथवा समग्री(Matter) बाहर से मिलता है, परन्तु इसे आकृति(Form) देने का कार्य्य आत्मा आप करता है। ज्ञान के प्रत्येक भाग में द्रव्य और आकृति विद्यमान हैं; इनके संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु इन दोनों का स्रोत एक नहीं। यह काण्ट का सिद्धान्त है और उसके तर्क का मुख्य

काम ज्ञान की नाना अवस्थाओं में इन दोनों भागों को पृथक २ करना है। काण्ट यह बताना चाहता है, कि आत्मिक जीवन की भिन्न २ अवस्थाओं में कितना भाग बाहर से प्राप्त होता है और कितना उसकी अपनी क्रिया का परिणाम है।

(४) ज्ञान क्या है ?

लाक ने कहा था कि ज्ञान दो प्रत्ययों के मिलाप से होता है। काण्ट इसको स्वीकार करता है। यदि मैं 'घोड़ा' या 'गरमी' कहूं, तो इसमें कोई ज्ञान नहीं। ज्ञान के लिए आवश्यक है कि मैं घोड़े और गरमी की बाबत कुछ कहूं। अब मैं कहता हूं, 'घोड़ा जुगाली नहीं करता', 'गरमी प्राकृत पदार्थों का विस्तार बढ़ाती है'। यह वाक्य ज्ञान हैं। ज्ञान के लिए आवश्यक है कि वह वाक्य हो : किन्तु प्रत्येक वाक्य ज्ञान नहीं होता।

वाक्य विषयी (Subject) और विधेय (Predicate) का मिलाप होता है। अब दो अवस्थायें सम्भव हैं :—विधेय विषयी के साथ कोई नया ख्याल मिला सकता है, या यह भी हो सकता है कि जो ख्याल विधेय में प्रकाशित होता है, वह पहिले ही विषयी में विद्यमान हो। पहिली प्रकार का वाक्य संयोजक (Synthetic) कहलाता है : जैसाकि पृथिवी सूर्य्य के गिर्द घूमती है। दूसरा वाक्य व्यवच्छेदक (Analytic) कहलाता है : जैसाकि त्रिकोण के तीन कोने होते हैं। इस प्रकार के वाक्यों में कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जो पुरुष जानता है कि त्रिकोण क्या है, वह यह भी जानता है कि उसके ३ कोने होते हैं। किन्तु संयोजक वाक्य हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। प्रत्येक पुरुष जो जानता है कि पृथिवी क्या है, यह नहीं जानता कि पृथिवी सूर्य्य के गिर्द घूमती है। हमें ज्ञान का लक्षण करने के लिए वाक्य के साथ संयोजक शब्द मिलाना चाहिए। ज्ञान संयोजक वाक्य है।

परन्तु ज्ञान और ज्ञान में भेद है। मैं कहता हूं :—'अग्नि

मेरे सामने जलती है', 'आग प्राकृत पदार्थों के विस्तार को बढ़ाती है'। यह दोनों संयोजक वाक्य हैं। परन्तु पहिला वाक्य आग की बाबत एक विशेष घटना का वर्णन करता है; दूसरा एक नियम का वर्णन करता है। यह आग के स्वभाव का अङ्ग नहीं कि वह मेरे सामने जले; किन्तु प्राकृत पदार्थों के विस्तार को बढ़ाना इसका स्वभाव है। जो संयोजक वाक्य विशेष घटनाओं का वर्णन करने के स्थान में नियमों का वर्णन करते हैं, वह साइन्स कहलाते हैं।

यह नियम प्रत्येक समय में और प्रत्येक स्थान में अपना काम करते हैं। इन नियमों को हम कहां से सीखते हैं? अनुभववाद कहता है, कि अनुभव यहां भी हमारा गुरु है। यह उत्तर सन्तोष जनक नहीं। अनुभव हमें विशेष अवस्थाओं का ज्ञान दे सकता है; सारी अवस्थायें इसकी सीमाओं में नहीं आतीं। अनुभव की सहायता से मैं कह सकता हूं कि मैंने २० अथवा बीस लक्ष बार आग को प्राकृत पदार्थों का विस्तार बढ़ाते देखा है; किन्तु मेरा अनुभव मुझे यह कहने के योग्य नहीं बनाता कि आग सदैव ऐसा करती है। प्रथम तो वर्तमान में मेरा अनुभव अत्यन्त सीमित है। मैं ब्रह्माण्ड की अग्नि को जो प्राकृत पदार्थों पर क्रिया कर रही है, बहुत थोड़े अंश में देखता हूं। उसका एक बड़ा भाग मेरी आंखों से ओझल है। जिस भाग को मैं देखता हूं, उसकी बाबत भी मैं हर समय यह तजर्बा नहीं करता कि यह पदार्थों का विस्तार बढ़ाती है या नहीं। यदि मैं कल्पना करलूं कि मैं इस समय अग्नि के प्रत्येक भाग की बाबत यह जानने का यत्न करता हूं और उसमें कृतकार्य्य भी होजाता हूं, तो भी मैं यह किस तरह कह सकता हूं कि भूत काल में भी अग्नि प्राकृत पदार्थों का विस्तार बढ़ाती रही है? फिर सारा भविष्यत् मेरी दृष्टि से ओझल है। वर्तमान और भूतकाल की सहायता से मैं यह कहने का अधिकार नहीं रखता कि अग्नि का स्वभाव ही ऐसा है। विपक्षी कहेगा कि प्रकृति का प्रवाह एक प्रकार से चल रहा है, और इसमें नियम का राज्य है। यह उत्तर वास्तव

में पुराना प्रश्न ही है। हम किस तरह जानते हैं कि जगत् में नियम का राज्य है ? अनुभव ऐसे परिणाम पर पहुंचने के लिए पर्य्याप्त साक्षी नहीं देता। इन नियमों का स्रोत अनुभवमूलक ज्ञान नहीं; यह आत्मा में विद्यमान हैं। आत्मा की बनावट ही ऐसी है कि वह इन में विश्वास किये बिना नहीं रह सकता। यह ज्ञान नैसर्गिक (A priori) है। अब यदि ज्ञान को साइन्स के अर्थों में समझें, तो हम अपने प्रश्न का पूरा उत्तर दे सकते हैं।

प्रश्नः—ज्ञान क्या है ?

उत्तरः—ज्ञान संयोजक नैसर्गिक वाक्य हैं।

(२) ज्ञान किस प्रकार सम्भव है ?

अब दूसरा प्रश्न हमारे सामने यह है कि ज्ञान किस तरह सम्भव है ? हम किस तरह संयोजक नैसर्गिक वाक्य बना सकते हैं ? जैसा हम कह चुके हैं, काण्ट के विचार में ज्ञान की बनावट में एक भाग बाहर से आता है, दूसरा आत्मा अपनी ओर से सम्मिलित करता है। द्रव्य आत्मा को मिलता है, किन्तु जो आकृति यह ग्रहण करता है, वह आत्मा की दी हुई होती है। अब हम इन दोनों भागों को पृथक् करने का यत्न करेंगे।

ज्ञान का द्रव्य प्रतिमा या अनुभव है। यह हमारी प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति (Sensibility) प्रस्तुत करती है, किन्तु इस द्रव्य अथवा सामग्री को अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं पहुंचा सकती। यह द्रव्य अपने स्रोत से हमारे मन तक पहुंचते हुए प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति के प्रभाव से परिवर्तित हो जाता है। जिस तरह मैं एक खिलौने बनाने वाले को उसकी मट्टी देते हुए उस पर अपनी उंगलियों के चिह्न लगा देता हूं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति ज्ञान द्रव्य को मन तक पहुंचाते हुए उस पर अपनी मोहर लगा देती है। भेद इतना है कि खिलौने बनाने वाला मेरी उंगलियों के चिह्नों को मिटा सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति के चिह्न मिटते नहीं, प्रत्युत सदैव विद्यमान रहते हैं। इस तरह जो अनुभव अथवा प्रत्यक्ष हमारे ज्ञान का द्रव्य हैं, उनकी अपनी बनावट

भी दो बातों पर निर्भर है। बाहर से आकार रहित द्रव्य मिलता है और प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति उसे विशेष आकृतियें देती है। अनुभव में भी द्रव्य और आकृति का भेद है, और आकृतियां हमारे भीतर से आती हैं।

(६) देश और काल

यह आकृतियां देश और काल हैं। प्रत्येक अनुभव जो हमारे मन में पहुंचता है, देश और काल में दीखता है। मानसिक घटनायें काल में और बाह्य पदार्थ देश में प्रतीत होते हैं। देश और काल हमारे ज्ञान के विषय नहीं, बरन्च हमारे अनुभवों की सामग्री को अनुभव बनाने के साधन हैं। यह वह आकृतियां हैं, जिनमें हम अनुभव करते हैं।

देश और काल हमारे अनुभव ज्ञान के नियम हैं। यह सिद्धान्त काण्ट की शिक्षा का अत्यावश्यक अङ्ग है। यदि देश और काल हमारे आत्मा के बाहर हस्ति नहीं रखते, प्रत्युत हमारे अन्दर हैं, तो कोई द्रव्य जो स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, देश और काल में नहीं हो सकता। ऐसे पदार्थ के सम्बन्ध में प्रादेश और काल का वर्णन करना निरर्थक शब्दों का बर्ताव करना है। दूसरा परिणाम यह है, कि अनुभव हमें उस पदार्थ का जो उनका निमित्त कारण है, वास्तविक ज्ञान नहीं देते। हमारा आत्मा सत् पदार्थ को ऐनक में से देखता है। देश और काल इस ऐनक के दो शीशे हैं। हम अनुभवों को प्राप्त करते हुए इस ऐनक को परे नहीं फेंक सकते, और इसलिए यह नहीं कह सकते कि यह शीशे हमारे ज्ञान विषय के वास्तविक स्वरूप में क्या परिवर्तन कर देते हैं। यदि इस ऐनक का उतारना सम्भव होता, तो हम पदार्थों का साक्षात् दर्शन करके जान सकते, कि हमारी प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति पदार्थों के आकार में क्या परिवर्तन करती है। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। हमारा सारा अनुभव ज्ञान देश और काल से प्रतिबद्ध है।

(७) ज्ञान नियम

(The Categories of Understanding)

हमारे अनुभव, आकृत द्रव्य, हमारे आत्मा के सन्मुख आते हैं। यह अभी ज्ञान नहीं। जैसा हम ने देखा है, ज्ञान के लिए दो अनुभवों का मेल आवश्यक है। 'गरमी पदार्थों के विस्तार को बढ़ाती है'। गरमी को मैं ने अनुभव किया है; यह भी देखा है, कि एक पदार्थ का विस्तार बढ़ गया है। किन्तु यह बात कि विस्तार के बढ़ने और गरमी में सम्बन्ध है, दोनों अनुभवों से पृथक् है, और अनुभव का विषय नहीं। यह सम्बन्ध का प्रत्यय कहां से आया है? यह मेरे मन ने अपने पास से अनुभवों के साथ सम्मिलित कर दिया है। अनुभव ईंटें हैं; मेरे मन ने अपने पास से चूना लगाकर उन्हें जोड़ दिया है। सम्बन्ध बाहर विद्यमान नहीं; यह ज्ञान का विषय नहीं; प्रत्युत ज्ञान का साधन है। जब तक प्राप्त अनुभवों को मन सम्बन्धित न करे, ज्ञान की सम्भावना ही नहीं हो सकती। जिस प्रकार प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति ने बाहर की सामग्री को देश और काल की आकृतियां देकर अनुभव बनाया था, इसी तरह मन ने इन अनुभवों को सम्बन्ध में जोड़ कर ज्ञान बनाया है।

हमारा मन अनुभवों से ज्ञान बनाने के लिए उन्हें कई आकृतियां देता है। उनमें से एक आकृति (सम्बन्ध) का हमने वर्णन किया है। इन आकृतियों को ज्ञान नियम (The Categories of Understanding) कहते हैं। काण्ट यत्न करता है कि इन नियमों की समग्र सूची तय्यार करे। काण्ट से पूर्व अरस्तु ने यह यत्न किया था*,

* अरस्तु के सन्मुख प्रश्न यह है कि किसी पदार्थ की बाबत कहते हुए हम किन विशेषणों का वर्णन कर सकते हैं। उसकी सम्मति में यह विशेषण दस हैं :—

(१) द्रव्य (२) गुण (३) परिमाण (४) सम्बन्ध (५) स्थान (६) समय (७) आसन (८) सम्पत्ति (९) कृति (१०) सहना।

जैसे हम देवदत्त की बाबत कह सकते हैं कि देवदत्त बुद्धिमान पुरुष है; वह ६ फुट ऊंचा है; कर्मचन्द का पुत्र है; अब

किन्तु उसका यत्न किसी विशेष नियम की नींव पर न था। काण्ट एक नियम पर चलता है। Categories वह नियम हैं जिनके अनुसार हम मानसिक वाक्य बनाते हैं। इन नियमों की सूची तय्यार करने के लिए मानसिक वाक्यों की विभक्ति की ओर ध्यान करना चाहिए। नैयायिक मानसिक वाक्यों की विभक्ति इस प्रकार करते हैं :—

(१) परिमाण की अपेक्षा

(१) व्यापक (Universal); सारे मनुष्य दो पांव रखते हैं।
(२) विशेष (Particular); कोई हिन्दू वकील है।
(३) व्यक्ति रूप (Singular); मैं तर्क पढ़ाता हूं।

(२) गुण की अपेक्षा

विधि मुख (Affirmative); पुरुष चैतन्य है।
निषेध मुख (Negative); पत्थर चैतन्य नहीं है।
अवच्छेदक (Limiting); पत्थर अचैतन्य है।

(३) सम्बन्ध की अपेक्षा

(१) निरपेक्ष (Categorical); कल वर्षा हुई थी।
(२) अभ्युपगत (Hypothetical); यदि वर्षा हुई, तो हम दरिया की ओर जायेंगे।
(३) विभाजक (Disjunctive); गोपाल त्यागी पुरुष है, वा दम्भी।

(४) प्रकारता की अपेक्षा

(१) संदिग्ध (Problematic); सामने आने वाला पुरुष शायद मेरा भाई है।
(२) असंदिग्ध (Assertory); मेरे भाई की पुस्तक नहीं है।

अपने कमरे में सीधा खड़ा है; छड़ी हाथ में लिये हुए भाई को मार रहा है, और गालियां खा रहा है।

(३) स्वयं प्रमाण (Apodeictic) : त्रिकोण के दो सिरे अवश्य तीसरे से बड़े होते हैं।

इन १२ वाक्यों की तरह बारह मानसिक नियम हैं, जो तीन २ के चार समूहों में परिपाटित किए जा सकते हैं। या हम कह सकते हैं कि चार नियम हैं और उनमें से प्रत्येक तीन आकार ग्रहण करता है। यह नियम गुण, परिमाण, सम्बन्ध और प्रकारता हैं।

यदि यह सारे मानसिक नियम हैं, तो यह परिणाम सर्वथा न्याय युक्त है, कि अनुभव अपने आप में न गुण रखते हैं, न उनका परिमाण है, न उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध है, न उनकी बाबत किसी प्रकारता का वर्णन कर सकते हैं। अनुभवों को उनके गुण वा लक्षण हमारा मन देता है। उनका परिमाण हमारे मन को दात है। कारण कार्य्य का सम्बन्ध उनमें विद्यमान नहीं, प्रत्युत हमारा मन इस सम्बन्ध को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार हमारा मन ही अनुभवों [illegible] पर संदिग्ध वा असंदिग्ध वाक्य बनाता है। इन सब [illegible] में सम्बन्ध का नियम प्रधान है, क्योंकि प्रत्येक वाक्य विषयी और विधेय का सम्बन्ध होता है। सम्बन्धों में मुख्य सम्बन्ध कारण कार्य्य का है। सारे साइन्स की नींव इस पर है। यह नियम जैसा काण्ट प्रगट करता है, हमारे मन के हाथ में एक हथियार है, जिसकी सहायता से यह अनुभवों को ज्ञान के रूप में परिवर्तित करता है। यह एक मानसिक सांचा है, जिस से गुज़र कर अनुभव ज्ञान बनते हैं, और बाहुल्यता के स्थान में एकता उत्पन्न होती है।

इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि ह्यूम ने काण्ट को निद्रा से जगाया। अब हम इसका अर्थ समझने के योग्य हैं। बार्क्ले और ह्यूम ने यह बताने का यत्न किया था, कि विस्तृत पदार्थ मन के बाहर हस्ति नहीं रखते; ह्यूम ने यह बताने का यत्न किया था कि दृश्य एक दूसरे से अलग हस्ति रखते हैं, और इन में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। काण्ट इन परिणामों को स्वीकार करता है, किन्तु कहता है कि ह्यूम और बार्क्ले ने ठोकर खाई

है। उन्हों ने दूसरे लोगों की तरह यह कल्पना कर ली कि विस्तार प्रकृति का गुण है, और इस कल्पना के पीछे प्रकृति का अभाव सिद्ध करने के लिये यह पर्याप्त जाना कि विस्तार के बाह्य (extra-mental) अस्तित्व का खण्डन करदें। उन्हें यह ध्यान नहीं आया कि विस्तार अथवा देश के आत्मिक होने पर भी प्रकृति के लिए एक काम रहता है। यह सत्य है कि विस्तार या देश आत्मा से बाहर कुछ नहीं। परन्तु यह तो अनुभवों की आकृति है, इसके अतिरिक्त हमें अनुभवों की सामग्री का भी खोज करना चाहिये। यह सामग्री प्रकृति से प्राप्त होती है। ह्यूम सत्य कहता है कि दृश्यों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं; किन्तु इस से यह परिणाम नहीं निकलता कि सम्बन्ध का अस्तित्व ही नहीं। हम क्यों इसका खोज अन्य स्थान में न करें? दृश्य अलग २ प्राप्त होते हैं; हमारा मन सम्बन्ध उनके साथ सम्मिलित कर देता है। इस प्रकार ह्यूम ने विस्तार को मानसिक और दृश्यों को असम्बन्धित वर्णन करके एक बड़ी सच्चाई का प्रकाश किया; किन्तु इन से प्रकृति और सम्बन्ध के अभाव का अनुमान करने में उसने भूल की है। ह्यूम सम्बन्ध का खोज अनुचित स्थान में करता रहा। वहां यह उसको प्राप्त नहीं हुआ, और उसने उतावली से यह अनुमान कर लिया कि सम्बन्ध का अस्तित्व ही नहीं। काण्ट का तर्क अनुभववाद और सहजज्ञानवाद का संशोधन करता है, और उनमें जो भाग यथार्थ हैं, उनको मिला कर हमारे सन्मुख रखता है।

(८) तर्क का कोपर्निकस

काण्ट अपने आप को तर्क का कोपर्निकस कहता है। इसका क्या अभिप्राय है? कोपर्निकस से पूर्व लोग समझते थे कि पृथिवी ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित है, और तारागण उसके गिर्द घूमते हैं। मनुष्यों के कई अनुभव ऐसे थे जो इस समाधान के अनुसार स्पष्ट समझ में नहीं आते थे। कोपर्निकस ने कहा, यदि यह कल्पना घटनाओं के सन्मुख स्थित नहीं रह सकती, तो मैं इसके

स्थान में एक और कल्पना गोचर करता हूं; तारागण खड़े हैं, और पृथिवी घूमती है। इस परिवर्तन ने साइन्स की काया पलट दी। काण्ट कहता है कि सृष्टि की व्यवस्था में और हमारे आत्मा की बनावट में एक प्रकार की तद्रूपता है। हम कल्पना करते हैं कि जैसा हम दृश्यों का सम्बन्ध देखते रहे हैं, वैसा ही देखते रहेंगे। तजर्बा ऐसा ही दिखाता है। हमारा आत्मा व्यवस्था चाहता है, और सृष्टि में व्यवस्था विद्यमान है। ऐसा क्यों है? लाईब्निट्ज़ ने कहा था कि आत्मा और प्रकृति में एक प्रकार का संयोग है, जो आरम्भ से संस्थापित है। यह तो एक घटना का वर्णन करना है। यह तो हम जानते ही हैं; आवश्यकता इस बात की है कि इस घटना का समाधान किया जावे। पहिले तार्किक कहते रहे हैं कि सृष्टि में नियम का राज्य है, और सृष्टि अपने नियमों का प्रभाव हमारे आत्मा पर डालती है। हमारा आत्मा कर्मपात्र (Passive) है; प्रकृति क्रिया करती है। इस समाधान में कोई सन्तुष्ट नहीं हुआ, और तर्क विरोधी सम्प्रदायों के लिए युद्धक्षेत्र बना रहा है। काण्ट कहता है, मैं दूसरा समाधान पेश करता हूं; इसके अनुसार सृष्टि अपने नियमों का प्रभाव हमारे आत्मा पर नहीं डालती, प्रत्युत आत्मा अपने नियमों का प्रभाव सृष्टि पर डालता है। हम आशा करते हैं कि भविष्यत भूत के समान होगा, और यह आशा सृष्टि में कारण कार्य्य का सम्बन्ध उत्पन्न कर देती है। हमारी आशा बाह्य व्यवस्था का परिणाम नहीं, वरंच उस व्यवस्था को उत्पन्न करती है। हम सृष्टि में नियम का राज्य देखते हैं, क्योंकि हम इस राज्य के उत्पादक हैं।

हम ने आकृति रहित सामग्री को अनुभवों में परिवर्तित किया है; हमने ही इन अनुभवों में सम्बन्ध उत्पन्न करके ज्ञान बनाया है; हमारा आत्मा दृश्य जगत में अपने नियमों का राज्य संस्थापित करता है। हम दृश्य जगत् के बनाने वाले हैं।

काण्ट के सिद्धान्त में जीवात्मा विश्व को बनाता है; इसका स्रष्टा नहीं; सामग्री बाहर से प्राप्त होती है। द्रव्य स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, यद्यपि वह हमारे ज्ञान में प्रवेश नहीं करता। काण्ट

के सिद्धान्त में द्रव्य पर्दे के पीछे रहता है, परन्तु ज्ञान के लिए उसका अस्तित्व आवश्यक है। जैसा हम देखेंगे, काण्ट के शिष्यों ने समझा कि उनके गुरु के सिद्धान्त में द्रव्य एक व्यर्थ पदार्थ है, और एक ठोकर लगाकर उसे परे फेंक दिया।

(९) बुद्धि के प्रत्यय
(The Ideas of Reason)

हमारा आत्मा एक है और आत्मिक जीवन भी एक ही है। भिन्न २ विचारों में हम उसे भिन्न २ नाम देते हैं। जब यह आकृति रहित संवेदन को अनुभवों में परिवर्तित करता है, तो हम उसे प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति का नाम देते हैं। जब यह अनुभवों से वाक्य बनाता है, तो हम इसे मन (Understanding) कहते हैं। हमारा आत्मा वाक्य ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत वाक्यों को व्यवस्थित करना और बाहुल्यता के स्थान में एकता उत्पन्न करना चाहता है। अनुभवों को देखकर कल्पना करता है कि प्रकृति इनका कारण है; अपनी अवस्थाओं को देख कर आत्मिक द्रव्य को उनका कारण समझता है; सृष्टि की बनावट को देख कर परमात्मा को इसका निमित्त कारण ख्याल करता है। अपनी बनावट के कारण आत्मा विवश है कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में विश्वास करे। हम इन विश्वासों के बिना रह नहीं सकते; यह हमारी आत्मिक आवश्यकता है। जब आत्मा इन प्रत्ययों (प्रकृति, आत्मा, परमात्मा,) का चिन्तन करता है, तो हम इसे बुद्धि (Reason) कहते हैं।

बुद्धि इन पदार्थों को साक्षात् जान नहीं सकती। यह पदार्थ अनुभव नहीं, और हमारे सारे ज्ञान की नींव अनुभव पर है। इन प्रत्यों की सहायता से हम अपने ज्ञान को व्यवस्थित करते हैं; किन्तु हम जान नहीं सकते कि वास्तव में इनकी तात्विक हस्ति है वा नहीं।

हम प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसका एक प्रमाण यह है कि जो कुछ हम

की तात्विक हस्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है, वह सन्तोष जनक नहीं।

पहिले जीवात्मा को लें।

मनो विज्ञान कहता है कि :—

(१) आत्मा एक द्रव्य है।

(२) आत्मा अमिश्रित है और उसका नाश नहीं होसकता।

(३) आत्मा सदैव एक ही है, अर्थात् पुरुष (Person) है।

(४) आत्मा दूसरे पदार्थों से पृथक् और स्वन्त्रत हस्ति रखता है, यद्यपि यह शरीर के साथ अपना सम्बन्ध बना सकता है।

इस में सन्देह नहीं कि जब हम किसी प्रकार का विचार करते हैं; तो हम अपने आत्मा को इन विचारों का स्रोत समझते हैं; ज्ञान के मिश्रित विषय के मुकाबिले में यह अमिश्रित प्रतीत होता है; जहां ज्ञान के विषय में परिवर्तन होते हैं, वहां दूसरी ओर हम आत्मा को परिवर्तन से मुक्त चिन्तन करते हैं; आत्मा ज्ञान के विषय से पृथक् भी प्रतीत होता है। जीवात्मा को ऐसा समझना हमारे विचार के लिये आवश्यक है; विचार की सम्भावना ही ऐसी कल्पना के बिना नहीं हो सकती। किन्तु जब हम अपनी विचार आवश्यक्ता (Logical necessity) के कारण यह समझ लेते हैं कि वास्तव में भी जीवात्मा एक ऐसा पदार्थ है, तो तर्क हमें ऐसी छलांग लगाने की आज्ञा नहीं देता।

डेकार्ट कहता है: मैं सन्देह करता हूं, इस लिये मैं चिन्तन करता हूं; मैं चिन्तन करता हूं, इस लिये मेरी हस्ति है। यह युक्ति यथार्थ है, परन्तु इस में मेरे स्वरूप की बाबत कुछ वर्णन नहीं किया गया। डेकार्ट का कोई अधिकार नहीं कि वह चिन्तन करने वाले को एक द्रव्य कल्पना करले। जैसा ह्यूम ने कहा था, जब कभी मैं अपने आप को पकड़ना चाहता हूं, मेरा हाथ किसी अवस्था पर पड़ता है; इन अवस्थाओं से पृथक्, मैं हाथ नहीं आती। आत्मिक अवस्था से आत्मिक

प्रश्न तक एक चौड़ी खाई है, और इसे उल्लंघने के लिये कान्ट कोई पुल नहीं दिखाता।

अब प्रकृति की बाबत देखें।

जब हम प्रकृति को इस के शुद्ध स्वरूप में गुण, परिमाण, सम्बन्ध और प्रकारता की दृष्टि से देखना चाहते हैं, तो हम कई प्रकार के परस्पर विरोधों में फंस जाते हैं। पूर्वपक्ष और प्रतिपक्ष दोनों को सिद्ध करने के लिये युक्तियां दी जा सकती हैं।

गुण के सम्बन्ध में हम पूछ सकते हैं, क्या प्रकृति परमाणुओं से बनी हुई है, जिन के टुकड़े नहीं होसकते ? या इस के विभाग में कहीं ठहरने की आवश्यकता नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्रकृति परमाणुओं से बनी हुई है।

यदि ऐसा नहीं,तो कल्पना करो कि प्रकृति के टुकड़े हो सकते हैं। इन टुकड़ों के और टुकड़े हो सकते हैं,और इस प्रकार यह परम्परा कभी समाप्त नहीं होती। इस अवस्था में यदि हम योग और विभाग के विचार को मन से दूर कर दें,तो बाकी कुछ नहीं रहता। परन्तु अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस लिये हम इस सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि हर एक मिश्रित वस्तु निरवयव परमाणुओं से बनी हुई है।

प्रतिपक्ष—प्रकृति के विभाग में हम कहीं ठहर नहीं सकते।

यदि ऐसा नहीं,तो कल्पना करो कि प्रकृति निरवयव परमाणुओं से बनी हुई है। प्रकट है कि यह परमाणु प्राकृत हैं, और प्राकृत होने के कारण विस्तार रखते हैं। जहां विस्तार है,वहां विभाग हो सकता है। इसलिये प्रकृति के विभाग में हम कहीं ठहर नहीं सकते।

परिमाण के सम्बन्ध में हम पूछ सकते हैं—प्रकृति देश और काल में सीमित है या निःसीम ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्माण्ड देश और काल में सीमित है।

यदि सीमित नहीं, तो निःसीम होगा। किसी विस्तृत समग्र का चिन्तन उसके भागों का चिन्तन करने से होता है। अनन्त विस्तार का चिन्तन करने के लिये अनन्त समय व्यतीत होगा; किन्तु व्यतीत हुये२ अनन्त समय का वर्णन करना परस्पर विरोधी शब्दों का इकट्ठा करना है। इस लिये ब्रह्माण्ड अपने विस्तार में अनन्त नहीं। इसी तरह, यदि ब्रह्माण्ड का कोई आदि नहीं, तो किसी क्षण तक अनन्त समय व्यतीत हो चुका है। व्यतीत हुए२ अनन्त समय में परस्पर विरोध है; इस लिये ब्रह्माण्ड काल की अपेक्षा भी अनन्त नहीं।

प्रतिपक्ष—ब्रह्माण्ड देश और काल में अनन्त है।

यदि ऐसा नहीं, तो कल्पना करो कि इसकी सीमा है। यदि देश की अपेक्षा यह सीमित हो, तो इस से परे शून्य होगा, और ब्रह्माण्ड और शून्य में हम सम्बन्ध का चिन्तन कर सकते हैं। सम्बन्ध दो पदार्थों में हो सकता है; ब्रह्माण्ड से परे जो कुछ है, वह पदार्थ नहीं; इसलिये ब्रह्माण्ड की कोई सीमा नहीं। इसी तरह यदि हम कल्पना करें कि इसका आरम्भ एक विशेष समय में हुआ, तो मानना पड़ेगा कि उस समय से पहिले शून्य काल था; किन्तु शून्य काल अभाव ही है, और अभाव से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये ब्रह्माण्ड अनादि है।

इसी तरह सम्बन्ध की दृष्टि से हम निम्नलिखित दोनों पक्ष सिद्ध कर सकते हैं :—

(१) ब्रह्माण्ड में कार्य्य कारण के सम्बन्ध का राज्य है, और कोई स्वतन्त्र निमित्त कारण नहीं।

(२) ब्रह्माण्ड में स्वतन्त्र निमित्त कारण विद्यमान है।

प्रकारता की दृष्टि से हम सिद्ध कर सकते हैं कि संसार में या इस से बाहर कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं। प्रतिपक्ष (ऐसी वस्तु विद्यमान है) भी सिद्ध हो सकता है।

इन सारी युक्तिओं का परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि हमारी बुद्धि प्राकृत तत्त्व को इस के शुद्ध स्वरूप में जान नहीं

सकती। जब यह दृश्य जगत् से परे जाना चाहती है, तो परस्पर विरोधों के जाल में फंस जाती है। गुण, परिमाण, सम्बन्ध और प्रकारता की बाबत जो विरोध वर्णन किये गये हैं, वह सब एक प्रकार के नहीं। पहिली दो प्रकार की प्रतिज्ञायें विस्तार और विभाग की बाबत है। बुद्धि ने कल्पना की है कि वास्तविक पदार्थ को भी देश और काल की दृष्टि से देखा जाता है; यह अयथार्थ कल्पना ही इसकी ठोकर का कारण है। देश और काल हमारे अनुभवों के बनाने के लिये सांचे हैं। दृश्यों के सम्बन्ध में हम इनका वर्णन कर सकते हैं; किन्तु दृश्यों से परे सत्पदार्थ की बाबत देश और काल का वर्णन करना ऐसा ही निरर्थक है, जैसे स्वाद के तोल अथवा शब्द के रंग का वर्णन करना है।

हमें प्रतीत होता है कि हम प्रकृति को निरवयव और अनन्तावयव सिद्ध कर सकते हैं; वास्तव में यह दोनों प्रतिज्ञायें मिथ्या हैं, क्योंकि जिस पदार्थ की बाबत विभाग का वर्णन किया जाता है, वह विस्तार ही नहीं रखता; इसी तरह हमें प्रतीत होता है कि हम ब्रह्माण्ड को सीमित और निःसीम भी सिद्ध कर सकते हैं। वास्तव में ब्रह्माण्ड अपने वास्तविक स्वरूप में न अनन्त है और न उसकी सीमा है; इसकी बाबत देश और काल का वर्णन ही नहीं होसकता।

सम्बन्ध और प्रकारता की बाबत सम्भव है कि दोनों पक्षों की प्रतिज्ञायें यथार्थ हों। यदि हम दृश्य जगत की ओर देखें, तो हमें मानना पड़ता है कि कार्यकारण नियम का राज्य सर्वगत है। किन्तु दृश्य जगत से परे जो कुछ है, उसमें स्वतन्त्र निमित्त कारणों की सम्भावना है। इसी प्रकार से दृश्य जगत् में कोई घटना ऐसी नहीं, जो दूसरी घटनाओं से सम्बन्धित नहीं; किन्तु अदृश्य जगत् में एक निरपेक्ष हस्ति हो सकती है, जो अपना प्रकाश दृश्य जगत् में करती हो।

इस तरह सम्बन्ध और प्रकारता की दृष्टि से जो प्रतिज्ञायें कीगई है, उनमें पूर्वपक्ष यथार्थ है, यदि यह दृश्य जगत् की बाबत

कहता है। प्रतिपक्ष भी यथार्थ हो सकता है यदि इसकी प्रतिज्ञा अदृश्य जगत् की बाबत हो।

प्राकृत पदार्थ अपने शुद्ध स्वरूप में बुद्धि का विषय नहीं। अब हम ब्रह्म के विषय में ख्याल करें।

निर्पेक्ष ब्रह्म सम्बन्धों से परे है। ज्ञान सम्बन्ध का नियत करना है। इस लिए सम्बन्धों से मुक्त, केवल, ब्रह्म हमारे ज्ञान में नहीं आ सकता। व्यक्त परमात्मा की हस्ति के विषय में जो प्रमाण दिए गए हैं, उनमें से प्रधान प्रमाण प्रत्यय स्वरूप (Ontological) है। यह प्रमाण ऐन्सैलम ने दिया था, और नवीन तर्क में डेकार्ट ने। डेकार्ट कहता है कि वह परमात्मा का प्रत्यय अपने आत्मा में मौजूद देखता है और इस से अनुमान करता है कि परमात्मा वास्तव में हस्ति रखता है। यह युक्ति ऐसी ही है, जैसे एक कङ्गाल मनुष्य कहे, 'मेरे मन में दो सौ रुपया का ख्याल है, इसलिए दो सौ रुपया की (मेरी जेब में) हस्ति है'। अपने विचार से बाहक हस्ति तक जाने के लिए एक खाई से गुज़रना पड़ता है, और यहां डेकार्ट कोई सेतु (पुल) नहीं बनाता। काण्ट परमात्मा की हस्ति के विषय में दूसरे प्रमाणों पर भी प्रतिवाद करता है, और इस परिणाम पर पहुंचता है कि हमारी बुद्धि परमात्मा की हस्ति को सिद्ध नहीं कर सकती।

(५८) सारांश

यह शुद्ध बुद्धि की समिक्षा है। सारांश यह है कि :—

हमारे ज्ञान की बनावट में दो अंश हैं; एक बाहर से आता है, दूसरा मैं भीतर से सम्मिलित करता हूं। मेरे अनुभव मेरी प्रत्यक्ष ग्राहक शक्ति के चिह्न अपने ऊपर रखते हैं। इसी दशा में यह मेरे मन तक पहुंचते हैं।

मेरा मन अनुभवों को सम्बन्धित करके ज्ञान बनाता है। गुण, परिमाण, सम्बन्ध, प्रकारता अनुभवों में वर्तमान नहीं, वरंच मेरा आत्मा उनमें डालता है।

सत् पदार्थ जैसा वह है, मेरे ज्ञान में नहीं आता। मैं इसे देश और काल और ज्ञान नियमों (Categories) के शीशों में से देखता हूं। मैं जगत में व्यवस्था देखता हूं, क्योंकि मैं आप वहां व्यवस्था स्थापित करता हूं। मैं व्यवस्थित सृष्टि को बनाता हूं।

मेरा ज्ञान दृश्यों से परे नहीं जा सकता। मेरी बुद्धि ऊपर उड़ती है, और ज्ञान के भिन्न २ भागों में व्यवस्था उत्पन्न करना चाहती है। मैं अपने आत्मिक स्वभाव के कारण प्रकृति, जीव, और ब्रह्म की हस्ति में विश्वास करता हूं; किन्तु जब मैं कहता हूं कि वास्तव में इन पदार्थों का अस्तित्व है, तो मैं ज्ञान की सीमा से बाहर चला जाता हूं। बुद्धि इन द्रव्यों के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकती।

(११) क्रिया बुद्धि की समीक्षा

शुद्ध बुद्धि की समीक्षा हमें सन्देह में डाल देती है। इस का प्रकाश हमें बता नहीं सकता कि आत्मा एक द्रव्य पदार्थ है और स्वतन्त्र तथा अमर है। बुद्धि की सहायता से हम परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। यह शुद्धबुद्धि की समीक्षा का परिणाम है। किन्तु यह काण्ट का मत नहीं। काण्ट का उद्देश बुद्धि की शक्तियों का संकोच प्रगट करना है। वह बताना चाहता है कि सत् पदार्थों तक पहुंचने के लिए हमें कृति (Will) की शरण में आना चाहिए। आत्मिक शक्तियों में बुद्धि नहीं, वरंच कृति प्रधान है। दूसरी शक्तियां और पदार्थ इसी के आधार पर हैं। यह काण्ट का मुख्य सिद्धान्त है। बुद्धि की समीक्षा के पीछे वह कृति की समीक्षा करता है। कृति की समीक्षा प्रगट करेगी कि आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में काण्ट जो कुछ एक हाथ से लेता है, वह दूसरे हाथ से दे देता है। बुद्धि यह नहीं कहती कि आत्मा द्रव्य पदार्थ नहीं, स्वतन्त्र और अमर नहीं, और परमात्मा अस्तित्व नहीं रखता। बुद्धि दृश्यजगत की सीमाओं में बन्द होने के कारण इन प्रश्नों की बाबत चुप रहती है। यदि कुछ बोलती है तो यह कि 'मैं नहीं कह सकती, सम्भव है आत्मा और परमात्मा की

तात्विक हस्ति हो ; सम्भव है जीवात्मा स्वतन्त्र और नित्य हो। कृति कहती है, 'निःसन्देह परमात्मा और आत्मा नित्य हैं'। मनुष्य की शक्तियों में कृति का पद बुद्धि से ऊंचा है : इस लिए काण्ट का तर्क धर्म्म और आचार की नीवों को खोखला नहीं करता, वरंच केवल यह बताता है कि जहां हम उनकी नींव समझे हुए थे, वहां वास्तव में नहीं। कृति आचार और धर्म्म की रक्षा करती है। इसकी साक्षी बुद्धि के उत्पन्न किए हुए सन्देह का नाश कर देती है। क्रिया बुद्धि की समीक्षा में दो प्रश्न प्रधान हैं :—

(१) काण्ट के सिद्धान्त में आदर्श आचार क्या है ?

(२) आचार शास्त्र सत् पदार्थ के स्वरूप के विषय में क्या कहता है ?

(५७) आदर्श आचार क्या है ?

हम जिन पदार्थों को अच्छा या ग्रहण करने योग्य कहते हैं, वह दो प्रकार के होते हैं। कई तो इस लिए अच्छे कहलाते हैं, कि वह एक विशेष आदर्श की सिद्धि में सहायता देते हैं। धन, सम्पत्ति, स्वास्थ्यादि इस श्रेणी में हैं। यदि यह हमारी आशाओं के विरुद्ध हमारे आदर्श की सिद्धि में सहायक होने के स्थान में बाधक हों, तो हम इन्हें अच्छा नहीं कहेंगे। दूसरी प्रकार के पदार्थ अपने आप में ही प्राप्त करने के योग्य समझे जाते हैं। पहिली प्रकार के पदार्थ केवल साधन का मूल्य रखते हैं; दूसरी प्रकार के स्वयम साध्य होते हैं। काण्ट की सम्मति में दूसरी श्रेणी में एक ही पदार्थ है और वह पवित्र आकांक्षा है। कामों के अच्छा या बुरा होने का एक मात्र मापक यह है कि वह पवित्राकांक्षा से उत्पन्न होते हैं या नहीं। किसी काम का परिणाम उस काम के अच्छा या बुरा होने के सम्बन्ध में सर्वथा अप्रसंगिक बात है*।

---

* आचार शास्त्र में यह प्रश्न एक विवाद का प्रश्न है। काण्ट और उसके शिष्य कहते हैं कि किसी काम को भला बुरा कहने के लिए हमें उसके परिणामों की ओर ध्यान नहीं करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त, काण्ट के मत में जो काम हम विकारों से प्रेरित होकर करते हैं, वह अच्छा कहलाने का अधिकार नहीं रखता। मैं एक

जान स्टुअर्ट मिल और उसके साथी कहते हैं कि इस सम्बन्ध में काम का परिणाम ही ध्यान करने के योग्य है। कांक्षा की पवित्रता या अपवित्रता काम में किसी प्रकार का भेद नहीं करती, और इस लिए उसे अच्छा या बुरा भी नहीं बना सकती। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। एक पुरुष नदी में डूब रहा है, मैं किनारे पर खड़ा हूं, और उसे बचाता हूं। मेरा काम अच्छा है या बुरा? मिल कहेगा कि मनुष्य का जीवन मूल्यवान है और उसे बचाकर मैंने अच्छा काम किया है। काण्ट उत्तर देने से पूर्व पूछता है, कि उस पुरुष को बचाने में मेरा प्रयोजन क्या था? मैं निम्न लिखित उत्तर दे सकता हूं :—

(१) केवल सहानुभूति भाव से प्रेरित होकर मैंने अपने आप को खतरे में डाला, और एक भाई के दुःख निवारण का यत्न किया।

(२) मैं मार्ग में भूखा था; डूबते हुए पुरुष के शरीर पर अच्छे कपड़े और भूषण थे, उनके लोभ से मैं ने उसे बचाया।

(३) यद्यपि पानी उस पुरुष के डुबोने के लिए गहरा था, मेरे लिये बहुत गहरा न था। लोगों से प्रशंसा पाने के लिए मैंने यह साधारण यत्न किया।

(४) डूबता हुआ पुरुष मेरा शत्रु था। मैं चाहता था कि उसे कष्ट देकर मारूं, और एक छुरी लेकर उसके पीछे दौड़ा। वह पुरुष उस दुःख से बचने के लिए नदी में कूद पड़ा। क्रोध के वश में मैं इस बात को सहन न कर सका कि मेरा शत्रु इस सुगमता से मर जाए। मैं ने उसे निकाला, ताकि उसे घोर पीड़ा देकर मारूं।

काण्ट कहेगा कि पहिली अवस्था में मेरा काम अच्छा है; दूसरी अवस्था में अच्छा नहीं, वरंच क्षमा करने योग्य है; तीसरी अवस्था में निकृष्ट है: और चौथी अवस्था में अति घृणित है।

अनाथ को आहार खिलाता हूं, उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करता हूं, क्योंकि मुझे उसका रूप आकृष्ट करता है। मैं अपने पुत्र के लिए कष्ट सहन करता हूं, क्योंकि मैं उसे प्यार करता हूं। काण्ट की सम्मति में यह काम लाभदायक हों तो हों, सुन्दर भी हों, परन्तु आचार शास्त्र की दृष्टि से अच्छे नहीं। जब मैं अपना कर्तव्य, कर्तव्य के विचार से पालन करता हूं, तो मेरा काम धर्म्म के अनुसार है, अन्यथा नहीं।

यदि मैं यह अवस्थायें मिल के सामने वर्णन करता हूं, तो वह कहेगा, 'मुझे इन बातों से सम्बन्ध नहीं। इनमें कई अवस्थाओं में तुम अच्छे पुरुष हो, और कई अवस्थाओं में बुरे; किन्तु तुम्हारा काम प्रत्येक अवस्था में अच्छा है। यदि तुम उस पुरुष से उसके वस्त्र छीनते हो, या उसे कष्ट देते हो, तो यह दूसरा काम होगा और मैं इसे बुरा कहूंगा। इस समय प्रश्न केवल डूबते मनुष्य को बचाने का है, और यह काम अच्छा है'।

इस प्रकार मिल की सम्मति में बुरी कांक्षा से उत्पन्न हुआ २ काम अच्छा हो सकता है; काण्ट की सम्मति में ऐसा कहना परस्पर विरोधी वाक्य कहना है।

एक और उदाहरण लें। एक पुरुष की बूढ़ी माता आंखों से देख नहीं सकती, कानों से सुन नहीं सकती, और असाध्य रोगों में ग्रस्त है। उसके सम्बन्ध में अब प्रश्न यही है, कि कितना समय आप दुःखी रहे, और औरों को दुःखी करे। वह पुरुष माता को दुःख से मुक्त करने के लिए क्लोरोफ़ार्म या किसी और विष की सहायता से मार देता है। बूढ़ी माता की मृत्यु जितनी दुःख रहित होसकती है, उतनी की जाती है। यह काम अच्छा है या बुरा? भाव सर्वथा पवित्र है; स्वार्थ का यहां कोई अंश नहीं। यदि आकांक्षा ही कामों के भले बुरे होने की तुला है, तो हमें इस काम को प्रशंसनीय कहना चाहिए। क्या हम ऐसा कहने के लिए उद्यत हैं? काण्ट का शिष्य कहेगा, 'ऐसे पुरुष को हम मूर्ख कह सकते हैं, दुष्ट नहीं कह सकते'।

प्राचीन यूनानियों ने आचार शास्त्र की नींव श्रेयस् (Good) के प्रत्यय पर रक्खी थी। वह मनुष्य के लिए परमपुरुषार्थ या निःश्रेयस् के खोज में थे। काण्ट ने आचार शास्त्र की नींव कर्तव्य (Duty) पर रक्खी। पूर्वजों के सन्मुख प्रश्न यह था, 'सब से उत्तम पदार्थ जो मुझे प्राप्त करना चाहिए, क्या है?' काण्ट ने कहा 'मेरा कर्तव्य क्या है? आचार के सम्बन्ध में यह मुख्य प्रश्न है'। इस प्रश्न के उत्तर में काण्ट ने कहा, 'जो कुछ पवित्र आकांक्षा कहती है, वह धर्म्म है। इसकी आज्ञा अन्तिम आज्ञा है, और सब के लिए है। कोई पुरुष आचार सम्बन्धी नियम के कार्य्य से स्वतन्त्र नहीं होसकता'। इस आज्ञा का सर्वगत होना हमें इस योग्य बनाता है कि हम अपने कर्तव्य को बाबत नियम जान सकें। अच्छा कर्म्म करते हुए हमारा नियम ऐसा होना चाहिए कि हम इसे सर्वतन्त्र बनाने की चेष्टा कर सकें।

इस तरह काण्ट के सिद्धान्त में आचार नियम यह है:—

'इस प्रकार काम करो कि तुम अपने काम के नियम को सर्वगत नियम बनाने की चेष्टा कर सको'।

हमारे काम का उद्देश्य किसी और उद्देश्य का साधन होने के स्थान में स्वयम साध्य होना चाहिए। मनुष्यत्व अन्तिम उद्देश्य है। यह विचार आचार सम्बन्धी सूत्र को एक नए रूप में हमारे सन्मुख रखता है, और वह यह है:—

'इस तरह काम करो कि मनुष्यत्व (तुम्हारी अपनी अवस्था में, या किसी और की अवस्था में) साधन की न्याईं बर्ताव में न लाया जाय, बरंच अन्तिम उद्देश्य समझा जाए'।

काण्ट का सूत्र हमें आचार का द्रव्य नहीं देता; केवल आकृति देता है। काण्ट मुझे यह नहीं बताता कि मैं क्या करूं; वह केवल यह बताता है कि काम करते हुए मेरी चित्तवृत्ति कैसी होनी चाहिए। आचार सम्बन्धी नियम को इन दोनों रूपों में से किसी में भी बर्ताव में लाने से हम ठोकर खाने से बच सकते हैं। उदाहरण:—मैं एक मित्र से एक प्रण कर चुका हूं। मेरे

मन में आता है कि उस प्रण को तोड़ दूं। मैं पूछता हूं, क्या ऐसा करना उचित है? क्या मैं चाहता हूं कि प्रत्येक पुरुष अपने प्रणों को तोड़ा करे? यदि प्रण का तोड़ना नियम बन जाय, तो कोई पुरुष किसी प्रण पर विश्वास नहीं करेगा, और प्रण करना निष्फल होने से सर्वथा बन्द होजायगा। इस तरह प्रण का तोड़ना एक ऐसा कर्म्म है, जो जारी नहीं रह सकता, प्रत्युत अपने आप को नाश कर देता है। मैं कई बार समझता हूं कि दूसरों के साथ किया हुआ प्रण तोड़ना मेरे लिए लाभदायक है; किन्तु मैं यह नहीं चाहता कि यह नियम प्रचलित होजाय, और दूसरे लोग मेरे साथ किए हुए प्रणों को तोड़ें। इस विचार से मैं अनुमान करता हूं कि प्रण का तोड़ना मन्द कर्म है। सत्य बोलते हुए कोई पुरुष इस विचार से भयभीत नहीं होता कि यदि सारे मनुष्य सत्यभाषण आरम्भ कर देंगे, तो समाज में अत्याचार फैल जायगा।

चोर अपने आप को चोरी करने की आज्ञा देता है; परन्तु चोरी को प्रचलित नियम बनाने के लिए उद्यत नहीं। वह नहीं चाहता कि जो कुछ उसने श्रम करके कमाया है, उसे दूसरा चुरा लेजावे। दूसरी ओर धार्म्मिक मनुष्य के लिए इस से बढ़ कर हर्ष की बात नहीं हो सकती कि सारे पुरुष सज्जन होजायें।

अब आचार सम्बन्धी नियम को दूसरे रूप में लें। चोरी करना क्यों बुरा है? एक पुरुष कष्ट सहन करके वर्ष में दो सौ रुपया कमाता है। चोर वह रुपया चुरा लेजाता है, और वास्तव में उस पुरुष को अपने आनन्द के लिए साधन बनाता है। अपने कर्म्म से चोर कहता है, 'मैं साल भर तुम से सञ्चय कराता रहा हूं, ताकि मैं सुख से अपने दिन व्यतीत करूं'। उसने आचार सम्बन्धी नियम को भङ्ग किया है।

व्यभिचार बुरा है, क्योंकि इस में पुरुष स्त्री को और अपने आप को भी विषय भोग के लिए साधन के सदृश बर्ताव में लाता है।

मिथ्याभाषण बुरा है, क्योंकि झूठा मनुष्य दूसरे को अपने लाभ के लिए साधन बनाता है। एक प्रकार से सारे पाप झूठ के नाना रूप हैं। जब हम पाप करते हैं, तो अपने कर्म्म से यह प्रगट करते हैं कि हम मनुष्यत्व को अन्तिम उद्देश्य नहीं, प्रत्युत साधन समझते हैं, और इस तरह एक सचाई से इन्कार करते हैं। काण्ट मिथ्याभाषण को सब पापों से नीच कर्म्म वर्णन करता है; और उसकी शिक्षा प्राचीन आर्य्यों की शिक्षा है कि (नास्ति सत्यात् परो धर्म्मः) सत्य से बढ़ कर कोई धर्म्म नहीं।

(१३) आचार शास्त्र सत पदार्थों के विषय में क्या कहता है?

अब हम देखेंगे कि नैतिक जीवन उन प्रश्नों के सम्बन्ध में जिनकी बाबत बुद्धि का अन्तिम शब्द सन्देह था, क्या कहता है। जैसा हम कह चुके हैं, काण्ट के सिद्धान्त में आत्मा की मुख्य शक्ति कृति है। कर्ता की स्थिति में मनुष्य का मुख्य काम यह है कि अपने कर्तव्य का पालन करे। यह नैतिक जीवन का मुख्य नियम है। इस नियम से यह परिणाम अवश्य निकलता है कि वह अपने कर्तव्य का पालन कर सकता है। 'मुझे करना चाहिए, क्योंकि मेरे लिए करना सम्भव है'। आत्मा की स्वतन्त्रता आत्मा के उत्तर दातृत्व के लिए आवश्यक है। मैं कलम को अपने हाथ से फेंकता हूं। यह कलम कहां गिरेगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे कलम के भार का, वायु वा दूसरे पदार्थों की रोक का, और अपने बल का, जिस से मैं इसे फेंकता हूं, ध्यान करना चाहिए। जब मैं इन बातों की परीक्षा कर लेता हूं, तो कह सकता हूं कि कलम कहां और कब गिरेगा, और किस मार्ग से होकर जायगा। कलम के वश में नहीं कि अपने लिए कोई नया मार्ग बना ले, मार्ग में विश्राम करे, या कहीं और जा पड़े। इसकी क्रिया पूर्णतयः नियम के आधीन है; इसके लिए एक से अधिक मार्ग खुले नहीं हैं, जिन में से जौनसा यह चाहे, चुन ले। यदि कलम गिर कर लैम्प को तोड़ देता है, या एक बालक की आंख को

हानि पहुंचाता है, तो मैं इसे दोष नहीं देता। कलम ने क्रिया नहीं की, प्रत्युत इसे हरकत दी गई है: और इस लिए यह अपने कर्म्म के लिए उत्तर दाता नहीं। इसके विरुद्ध मैं अपने कामों को अच्छा या बुरा कहता हूं। यह प्रशंसा या अप्रशंसा मेरे जीवन का प्रसिद्ध चिह्न है। यदि मेरे लिए भी कलम की तरह एक ही मार्ग होता, यदि मैं भी कलम की तरह नियम के आधीन होता, तो इस प्रकार की प्रशंसा अप्रशंसा सर्वथा निरर्थक होती। धार्म्मिक जीवन की हस्ति आत्मिक स्वतन्त्रता पर निर्भर है। यदि मैं सर्वथा परतन्त्र हूं, तो मेरे काम लाभदायक या हानिकारक हो सकते हैं, किन्तु अच्छे या बुरे नहीं हो सकते। इनकी बाबत अभिमान करना या पश्चाताप करना मूर्खता है। यदि मैं सर्वांशों में प्रकृति की सन्तति हूं, और प्रकृति के नियम मेरे समग्र जीवन पर राज्य करते हैं, तो कर्तव्य का विचार एक भ्रम है, और धर्म्माधर्म्म में भेद करना मूर्खता है। दूसरी ओर यदि धर्म्म और अधर्म्म अस्तित्व रखते हैं, तो मैं पूर्णतय: प्रकृति की सन्तान नहीं, प्रत्युत मुझ में एक अंश ऐसा है जो प्राकृत नियम से स्वतन्त्र है।

मेरे कर्म्म दृश्य जगत का भाग हैं: इस लिए वह कारण कार्य्य नियम के आधीन हैं, और एक दूसरे से गठित हैं। किन्तु जिस स्रोत से यह कर्म्म निकलते हैं, वह दृश्य नहीं: वह सत् पदार्थ है, और कृति हमें उसकी स्वतन्त्रता में सन्देह नहीं करने देती। यदि हम इसकी स्वतन्त्रता में सन्देह करें, तो नैतिक जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहता। नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है कि आत्मा स्वतन्त्र हो। तर्क के सम्बन्ध में आचार शास्त्र की यह पहिली शिक्षा है।

आचार में आदर्श यह है कि मनुष्य के कामों में विकारों का दखल न हो, प्रत्युत सारे काम धर्म भाव से किये जायें। यह आदर्श बहुत ऊंचा है, और जो समय अब हमें मिला है, वह इसके लिए सर्वथा अपर्य्याप्त है। कौन पुरुष कह सकता है कि वर्तमान जीवन में इस आदर्श की सिद्धी हो सकती है? विकार हमारे

जीवन का एक अङ्ग हैं; यह सर्वथा नष्ट नहीं हो सकते। अधिक से अधिक हम यही कर सकते हैं कि अपनी प्रकृति के इस अङ्ग को निर्बल करते जायें। आदर्श अनन्त है, और इसकी सिद्धी के लिए परिमित काल पर्य्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा का जीवन परिमित अथवा सीमित नहीं, वरञ्च आत्मा नित्य पदार्थ है। आत्मा का अमर होना धार्मिक जीवन का दूसरा समन्वय है।

धर्म के काम धर्म के विचार से करने चाहियें, और उन में किसी विशेष कामना का दखल नहीं होना चाहिये। किन्तु यद्यपि हमारा काम किसी परिणाम के लिए न हो, उसका परिणाम अवश्य होता है। धार्मिक बुद्धि कहती है कि धर्म और सुख का मेल होना चाहिये। जिस ज़ोर से यह बुद्धि कहती है कि धर्म की आज्ञा अन्तिम आज्ञा है, और मनुष्यत्व अन्तिम उद्देश्य है, उसी ज़ोर से यह भी कहती है कि धर्म का फल सुख होना चाहिये। क्या हम अपने आप में यह शक्ति देखते हैं कि धर्म और सुख का मेल करदें ? नाटककार अपने नाटक में पापी को दण्ड देता है और धर्मात्मा पुरुष को सुखी बनाता है; किन्तु यह जगत, जिस में हम रहते हैं, नाटककार की कल्पना से भिन्न वस्तु है। वास्तव में कई वार ऐसा होता है कि धर्म का जीवन कष्ट का जीवन है, और अधर्म फलता फूलता है। हमारी धार्मिक बुद्धि (Moral Sense) इस व्यवस्था को अन्तिम प्रबन्ध स्वीकार नहीं कर सकती। हम आप या हमारे जैसे अल्प आत्मा यह शक्ति नहीं रखते कि इस विरोध को दूर कर सकें। इस लिए हमें अनुमान करना पड़ता है कि अल्प आत्माओं के अतिरिक्त एक शक्ति है जो व्यवस्था को स्थापित करेगी, जो धर्म और आनन्द को इकट्ठा करेगी, जो पापी को पाप का दण्ड देगी। अगर धार्मिक बुद्धि धोखा नहीं देती, तो आवश्यक है कि हमारा वर्त्तमान जीवन हमारे समग्र जीवन का एक छोटा सा भाग हो, और अल्प आत्माओं से बढ़ कर एक न्यायकारी परमात्मा हस्ति रखता हो। अगर हम पापी को दण्ड नहीं दे सकते और उसे हमारी आंखों के सामने दण्ड नहीं मिलता, तो वह दण्ड से मुक्त

नहीं हो जाता। हम सारे नाटक का एक अङ्क देखते हैं, और इस में हमें गड़बड़ प्रतीत होती है। महा कवि जिसने संसार का नाटक रचा है, अन्त में सर्व प्रकार की गड़बड़ दूर कर देता है। संसार का नाटक, यदि हम इसे समष्टि रूप में देखें, हमारी धार्मिक बुद्धि के प्रतिकूल नहीं कहता। 'परमात्मा का वज्र पापी को दण्ड देने में उत्तावली नहीं करता, किन्तु उसे छोड़ता भी नहीं'।

परमात्मा का अस्तित्व हमारे धार्मिक जीवन का तीसरा समन्वय है।

काण्ट की शिक्षा के अनुसार यह आचार शास्त्र का तर्क है। आचार की हस्ति के लिए आवश्यक है कि :—

(१) आत्मा स्वतन्त्र हो।

(२) आत्मा अमर हो।

(३) संसार में परमात्मा का राज्य हो।

यदि हम इन तीनों नियमों में विश्वास नहीं करते, तो हम धार्मिक जीवन के भवन के नीचे से नीवों को खेंच लेते हैं, और सारा भवन पृथिवी पर आ गिरता है। यह तीनों प्रतिज्ञायें आचार शास्त्र के स्वीकृतपक्ष (Postulates) हैं।

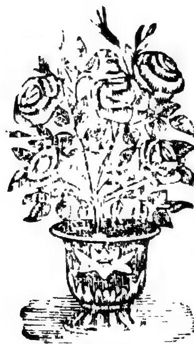
मध्य समय में ईश्वरीय विद्या मुख्य विद्या थी; यह तर्क की शिखर थी। काण्ट यह पदवी आचार शास्त्र को देता है, और कृति की नींव पर विश्वास और धर्म को स्थापित करता है। काण्ट के पीछे आचार सम्बन्धी प्रश्न एक प्रधान प्रश्न बन गया।

(१४) सौन्दर्य्य बुद्धि की समालोचना

हमारे विकार कृति और बुद्धि के मध्य में आते हैं, और उन्हें मिलाने के लिए एक प्रकार का पुल बनाते हैं। बुद्धि और कृति की समालोचना के पश्चात् काण्ट सौन्दर्य्य बुद्धि की समा-

लोचना करता है । बुद्धि का काम ज्ञान प्राप्त करना है; उसका विषय दृश्य जगत् और उसका नियम है । कृति का काम अन्तिम आदर्श की सिद्धि है; इसका विषय स्वतन्त्रता है । सौन्दर्य्य विवेकनी शक्ति का विषय सौन्दर्य्य है । यह सौन्दर्य्य वाह्य पदार्थों में नहीं, प्रत्युत हमारे आत्मा में विद्यमान है । जिस तरह आत्मा वाह्य जगत् पर अपने नियमों का प्रभाव डालता है, और विषयों को कारण कार्य्य बनाता है, और गुण वा परिमाण देता है, उसी तरह हमारा आत्मा सौन्दर्य्य विवेकनी शक्ति के रूप में पदार्थों को सुन्दर बनाता है । जो कुछ मुझे भाता है, सुन्दर है ।

यह शक्ति दृश्यों में अभिप्राय देखती है । शुद्ध बुद्धि के लिए दृश्यों में केवल कारण कार्य्य का सम्बन्ध है । सौन्दर्य्य विवेकनी शक्ति की दृष्टि में यह विषय एक उद्देश्य का प्रकाश करते हैं । दोनों शक्तियां सत्य पदार्थों तक पहुंचने में असमर्थ हैं । प्रत्येक समग्र ज्ञान (Experience) को समझने के लिए एक कल्पना कर लेती है । सत् पदार्थों तक पहुंचना कृति का काम है ।



दशम अध्याय

काण्ट के पीछे जर्मनी का तर्क।

अद्वैत वाद

काण्ट ने कहा था कि :—

यद्यपि हमारा ज्ञान दृश्य जगत की सीमाओं में बन्द है, तथापि इस जगत् की सम्भावना के लिए प्राकृत द्रव्य की हस्ति आवश्यक है। ज्ञान की सामग्री इस द्रव्य से प्राप्त होती है।

आत्मिक जगत में भी यद्यपि हमारा ज्ञान अवस्थाओं से परे नहीं जाता, तथापि इन अवस्थाओं का स्रोत आत्मिक द्रव्य है।

यह सम्भव है कि दृश्य जगत और आत्मिकावस्थाओं के निमित्त कारण पृथक न हों, प्रत्युत एक ही पदार्थ इन दोनों का स्रोत हो।

हमारी कृत्य बुद्धि बताती है कि हम परमात्मा से स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व रखते हैं।

काण्ट के पीछे जर्मनी के तार्किकों ने काण्ट से पूर्व के तर्क को उसकी पुरानी पदवी देने का यत्न किया, किन्तु इनके भवन की नींव काण्ट के सिद्धान्त पर थी। जिस प्रकार राज्य परिवर्तन के पीछे पुरानी व्यवस्था को नवीन नियमों की नींव पर स्थापित करने का यत्न किया जाता है, इसी प्रकार काण्ट की शिक्षा के पीछे प्राचीन तर्क को काण्ट की शिक्षा की नींव पर स्थापित करने का यत्न किया गया।

काण्ट के सिद्धान्त में द्वैत विद्यमान था। अनुभवों के बनाने

के लिए द्रव्य और आकृति के मिलाप की आवश्यकता थी। फिर अनुभवों से ज्ञान उत्पन्न करने के लिए ज्ञानद्रव्य को विशेष नियमों से बांधने की आवश्यकता थी। साधारण ज्ञान से आगे जगत् को व्यवस्थित करने और समष्टि रूप में समझने के लिए, मानसिक वाक्यों के अतिरिक्त बुद्धि के प्रत्ययों की आवश्यकता थी। इस तरह दो अंग आवश्यक थे, किन्तु इन दोनों अंगों का मेल आवश्यक नहीं था। काण्ट के पीछे आने वालों ने देखा कि उन अंगों के मेल के रहस्य का समझना सम्भव नहीं; ग्रन्थि को खोलने का एक मात्र उपाय ग्रन्थि का काटना है। उन्हों ने इन दोनों अंगों में एक को प्रधान पदवी दी। जिस बात में यह लोग आपस में मिलते हैं, वह अद्वैतवाद है। उनकी सम्मति में एक ही नियम होना चाहिए,जिस से सब कुछ समझ में आ सके। वह नियम क्या है?

(१) फ़ीच्टे (Fichte)

अहमवाद (Panegoism)

फ़ीच्टे (१७६२–१८१४) कहता है कि काण्ट के सिद्धान्तनुसार अव्यक्त प्रकृति का कोई गुण नहीं,उसका कोई परिमाण नहीं, वह किसी दृश्य का कारण नहीं होसकती। गुण, परिमाण और सम्बन्ध ज्ञान के नियम हैं, और इस लिए यह सत्य पदार्थ के गुण नहीं हो सकते। प्रकृति अभाव के बराबर है। काण्ट ने इसे हमारे संवेदनों का कारण वर्णन करके अपने मुख्य सिद्धान्त का विरोध किया है, जिसके अनुसार सत्य पदार्थ को कारण वर्णन करना अनुचित शब्दों का वर्ताव करना है। मेरा आत्मा जगत् को बनाता ही नहीं, किन्तु जगत् का उत्पादक भी है। मेरे आत्मा के विना और कुछ है ही नहीं।

मेरे आत्मा का तत्त्व कृति है, और कृति ही समग्र अस्तित्व है। मेरा आत्मा अपने ज्ञान के विषय को जानने से उसे उत्पन्न करता है; और जानता है, क्योंकि यह काम करता है।

हमें प्रतीत होता है कि हमारे आत्मा से पृथक् भी कुछ है। यह भ्रम है। हमारे आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि यह अपने ज्ञान अथवा विचार में अनात्मा को उत्पन्न करके अपने से पृथक् समझता है।

प्रत्येक विचार में अहम् (ego) अन्हम (non-ego) को स्थापित करता है, और अहम् अनहम् का सम्बन्ध नियत करता है। ज्ञान अहम् का नहीं, न ही अन्हम् का है; प्रत्युत अहम् और अन्हम् के सम्बन्ध का नाम है।

अहम् अपनी बृद्धि में जो अन्हम उत्पन्न करता है, उस में बहुत से अन्यात्मा भी होते हैं। इस लिए मनुष्य की उन्नति समाज में ही हो सकती है।

अहम् और अन्हम् की द्वैत एक भ्रम है। ज्ञान की सहायता से हम इस से मुक्त नहीं हो सकते। कृति हमें इस भ्रम से मुक्त करती है; इस लिए कृति ही आत्मिक शक्तियों में मुख्य शक्ति है।

कई मनुष्य परमात्मा को पुरुष (Person) समझते हैं। ऐसा समझना भूल है। परमात्मा धर्म्म राज्य (Moral order) से पृथक् कोई द्रव्य नहीं। धर्म्म और आचार एक ही हैं। वह पुरुष जो कर्म्म करते हुए अपने कर्तव्य का ध्यान रखता है, आस्तिक है; वह पुरुष जो कर्म्म करते हुए अपने सुख का ध्यान रखता है, नास्तिक है।

धर्म्म के सम्बन्ध में फ़ीचटे ने जो शिक्षा पीछे दी, वह इस से भिन्न है। वह परमात्मा को एक पुरुष चिन्तन करता है, और कहता है कि धर्म्म का तत्त्व परत्मामा में लीन हो जाना है। दूसरे भाग में उस की शिक्षा ब्रह्मसाक्षातकारवाद (Neo-Platonism) के बहुत निकट आती है।

(२) शैलिंग (Schelling)

शैलिंग (१७७५-१८५४) भी फ़ीचटे की तरह काण्ट के प्राकृत द्रव्य के अस्तित्व से इनकार करता है। उसकी सम्मति में भी अन्हम अहम से स्वतन्त्र हस्ति नहीं रखता। किन्तु बार्क्ले और फ़ीचटे के विरुद्ध, शैलिंग इसे आधी सचाई समझता है। उस की सम्मति

में हमें यह भी कहना चाहिये कि अहम् अन्हम् से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकता। सत्य पदार्थ न अहम् है, न अन्हम्; प्रत्युत निरपेक्ष (Absolute) है, जो अहम् और अन्हम् दोनों में अपना प्रकाश करता है। तर्क का काम इस निरपेक्ष को और इसके प्रकाशों को समझना है। अहम् और अन्हम् (आत्मा और अनात्मा) दोनों का स्रोत एक ही है, और इस लिए दोनों की वृद्धि एक ही नियम के अनुसार होती है। प्रत्येक विचार में प्रतिज्ञा (Thesis), प्रति प्रतिज्ञा (Anti-thesis) और संयोग (Synthesis), तीन अंग होते हैं। दृश्य जगत् विचार का ही बिम्ब है। इस लिए इस में भी तीन दर्जे विद्यमान हैं। पहिले पद में प्रकृति व स्थूलपन है; दूसरे पद में कृति का प्रकाश होता है। पहिली अवस्था में व्यक्तित्व नहीं होता; दूसरी अवस्था में व्यक्तित्व प्रधान चिह्न है। तीसरे पद में प्रकृति सम्बद्ध होती है, और उस में जीवन का प्रकाश होता है। किन्तु वास्तव में यह तीनों समग्र प्रकृति में विद्यमान हैं। सारा जगत् जीवित है; ऐसा न होता, तो जीवन की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं हो सकती थी।

आत्मा की अवस्था में यह तीनों पद संवेदन, प्रत्यक्ष और व्यापक हैं।

मनुष्य समाज की उन्नति में भी यह तीनों पद देखे जा सकते हैं। पहिले पद में जड़ता प्रधान थी; मनुष्य शिर आई को सहने के लिए तय्यार थे। दूसरे पद में, जिसका आरम्भ विशेष करके रोमा के लोगों ने किया, कृति प्रधान हुई, और यत्न ने साधारण ज्ञान का स्थान लिया। तीसरा पद अभी आएगा, जब कि इन दोनों अंगों का संयोग होगा *। ज्यों २ उन्नति होती जायगी,

* प्रतीत होता है, यह वही विचार है जो हमारे तर्क में सत्, रज, तम के नामों से प्रगट किया गया है। प्रकृति की प्रथम अवस्था में तम प्रधान है, दूसरी अवस्था में रज प्रधान है, तीसरी में सतोगुण। इसी प्रकार से आत्मा की अवस्था में, सम्वेदन में कृति का अभाव होता है, और ज्ञान भी थोड़ा होता है; प्रत्यक्ष कृति का परिणाम होता है; मनुष्य की शक्तियों में उत्तम शक्ति व्यापक (Abstraction) की है। समाज की उन्नति में भी पहिले तमो गुण (आलस्य, अज्ञान) का राज्य था; पीछे यत्न का राज्य हुआ; शान्ति का राज्य अभी आने वाला है।

आत्मा और दृश्य जगत् एक दूसरे के निकट आते जायेंगे। दूसरे शब्दों में निरपेक्ष जिसके यह दोनों प्रकाश हैं, अपने विकाश में कृतकार्य्य होता जायगा।

ज्ञान से कृति का पद ऊंचा है, परन्तु कृति भी ज्ञान की तरह हमें ब्रह्म का साक्षात् दर्शन कराने में असमर्थ्य है। यदि हमारे आत्मा में ज्ञान और कृति दोनों अंग ही होते, तो ब्रह्म से मेल होने की कोई सम्भावना न थी। किन्तु हमारे आत्मा में एक और अंग भी है, और वह सौन्दर्य्य विवेचन शक्ति है। सौन्दर्य्य बुद्धि उस द्वैत का नाश कर देती है, जो ज्ञान और कर्म्म की अवस्था में विद्यमान रहती है। सौन्दर्य्य विवेक और धर्म्म एक ही हैं। तर्क से हम परमात्मा का चिन्तन कर सकते हैं: सौन्दर्य्य हमें ब्रह्म का साक्षात दर्शन कराता है।

शैलिंग ने अपने सिद्धान्त को कई बार बदला, इस लिए उसकी शिक्षा में विरोध भी पाया जाता है।

अपने तर्क की अन्तिम आकृति में शैलिंग परमात्मा को एक पुरुष बताता है। वह कहता है कि ब्रह्म अपने विकाश में एक पद पर आकर पुरुषत्व ग्रहण करता है। प्रत्येक पदार्थ कुछ बनने से पहिले बनने की चेष्टा करता है। ब्रह्म ने भी ऐसी चेष्टा की; परन्तु इस चेष्टा के समय ब्रह्म चैतन्य न था। संसार में जो दुःख और पाप है, इस का कारण ब्रह्म की पुरुष बनने से पहिले की अवस्था है। यह अहम् या कुछ बनने की चेष्टा है। परमात्मा में यह नियम उसके प्रेम में डूबा रहता है; मनुष्य में यह स्वतन्त्र होजाता है, और पाप का कारण बनता है। परन्तु चाहे यह कितना बढ़ जाय, यह धर्म्म की तरह निरपेक्ष के उद्देश्य की सिद्धि के लिए बर्ताव में लाया जाता है।

(३) हेगल (Hegel)

चिद्वाद (Panlogism)

जब हेगल (१७७०–१८३१) ने तर्क पर अपने व्याख्यान दिये, तो जर्मनी में बहुत से बुद्धिमान् पुरुषों ने कहना आरम्भ किया कि तर्क

में बुद्धि का समय समाप्त होने वाला है। भविष्यत का काम किसी नये सिद्धान्त का प्रस्तुत करना नहीं, प्रत्युत हेगल को समझना होगा। कई उसको देवता कहते थे, क्योंकि इतनी बुद्धि की सम्भावना साधारण मनुष्य में नहीं हो सकी थी। एक लेखक लिखता है कि नेपोलियन और हेगल दो शेर थे, जो एक ही वर्ष में पैदा हुए, और इन दोनों में हेगल अधिक भयानक और बलवान् था। जहां एक ओर ऐसी प्रशंसा होती थी, वहां दूसरी ओर ऐसे पुरुष भी थे, जिनके दिलों में हेगल और उसकी शिक्षा के लिए कोई श्रद्धा न थी। शोपनहाअर हेगल की बाबत लिखता हुआ कहता है, 'हेगल एक अति साधारण, घृणित और मूढ़ पुरुष था, जिस ने अद्वितीय धृष्टता से निकम्मे विचार मिला कर एक नया सम्प्रदाय खड़ा कर दिया। उसके चेलों ने उसकी शिक्षा को अपूर्व बुद्धिमत्ता वर्णन किया, और मूर्खों ने इस शोर से घबरा कर इसे सचमुच तर्क स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह था कि जितनी प्रशंसा हेगल की हुई, इतनी पहिले किसी की नहीं हुई थी। ऐसे पुरुष की प्रसिद्धि ने एक नसल की विद्या को नष्ट कर दिया। जो पुरुष हेगल के विचारों की प्रशंसा करते हैं, वह स्मरण रखें कि आने वाले लोग उन पर हंसेंगे। यही नहीं, हमारे पड़ोसी अब भी हम पर हंस रहे हैं। विद्वान श्रेणी ने पिछले ३० वर्ष मेरे तर्क की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, और हेगल के विचारों को जो वास्तव में बुरे, अयोग्य, निरर्थक और प्रकृति की ओर लेजाने वाले हैं, सर्वोत्तम तर्क समझा है। यदि मैं अपने पड़ोसियों की हंसी सुनकर प्रसन्न होता हूं, तो इस के लिये कारण है। मुझे जर्मनी निवासी होने से इस बात में गौरव समझना चाहिए कि मैं जर्मनी में उत्पन्न हुआ हूं: किन्तु मैं विवश हूं। मोटे, भद्दे, अयोग्य, बकवास करने वाले पुरुषों को, जिन में न बुद्धि है, न और कोई योग्यता है, जर्मनी वाले अपना समझते हैं; मेरे जैसों को स्वीकार नहीं करते। वाइलेन्ड कहता है कि जर्मनी में उत्पन्न होना मन्द भाग्य है: मैं भी उसके साथ सहमत हूं'।

हम इस सम्मति भेद की ओर से उदासीन होसक्ते हैं; किन्तु इससे बड़ी कठिनता यह है कि हेगल क्या कहता है? यह जानना

भी सुगम काम नहीं। हेगल आप कहता था कि उसके तर्क को समझने के लिए मनुष्य को सिर के बल चलना पड़ता है। मरने से कुछ समय पहिले उसने कहा, 'मेरे एक शिष्य ने ही मुझे समझा है, और उसने भी नहीं समझा'। इस दशा में आश्चर्य नहीं यदि एक पुरुष उसे नास्तिक कहता है, और दूसरा आस्तिक ही नहीं, प्रत्युत् ईसाई और वह भी एक विशेष सम्प्रदाय का ईसाई, समझता है। जिन लोगों ने सारी आयु हेगल का तर्क पढ़ने में व्यतीत की है, वह भी कहते हैं कि वह अन्धेरे में टटोलते हैं।

(४) हेगल का तर्क

तर्क की दृष्टि से हेगल फ़ीचटे और शैलिंग की अपेक्षा काण्ट के अधिक निकट आता है। फ़ीचटे ने निरपेक्ष को सम्बद्ध वस्तुओं में एक (अहम्) समझ लिया था; शैलिंग ने निरपेक्ष को अहम् और अनहम् दोनों से पृथक् वर्णन किया था, किन्तु इसके सिद्धान्त में निरपेक्ष का ज्ञान सम्भव न था। यही त्रुटि काण्ट के तर्क में थी। काण्ट ने द्रव्य और उसके प्रकाश में ऐसी खाई खोद दी थी कि उसको लंघना बुद्धि की शक्ति में न था। हेगल का मुख्य सिद्धान्त यह है कि निरपेक्ष या तत्त्व अपने प्रकाशों में विद्यमान है। उसके पूर्वजों ने कहा था कि निरपेक्ष का लेशमात्र ज्ञान भी प्राप्त करना हमारे लिए असम्भव है; हेगल कहता है कि निरपेक्ष सर्वथा हमारे ज्ञान का विषय है। निरपेक्ष उस क्रिया और जीवन का, जो हम देखते हैं, पर्दे के पीछे छुपा हुआ स्रोत नहीं, किन्तु स्वयं वह क्रिया तथा जीवन ही है।

जो जीवन हम बाह्य जगत् में और अपने अन्दर देखते हैं, वह बुद्धि का प्रकाश है। भेद इतना है कि बाह्य जगत् में यह बुद्धि अचेतन है, और हमारे आत्मा में चेतन है। जगत् के सारे पदार्थ इसी एक निरपेक्ष के प्रकाश हैं। एक प्रकाश विकाश की एक अवस्था का है, दूसरा दूसरी का। नियम ऐसा है कि उत्तम प्रकाश के साथ निकृष्ट भी विद्यमान रहता है। अजीवित प्राकृत जगत् वनस्पति की उत्पत्ति के पीछे नाश नहीं होजाता; वनस्पति पशुओं

की उत्पत्ति के पीछे नाश नहीं होजाती; पशु मनुष्य की उत्पत्ति के पीछे भी विद्यमान रहते हैं।

यदि जो कुछ जगत् में है, वह बुद्धि का ही विकाश है, तो बुद्धि के नियम को जानना सारे जगत् को जानना है। इस प्रकार न्याय (Logic) तथा तर्क (Ontology) एक ही हैं। काण्ट ने ज्ञान में द्रव्य और आकृति का भेद किया था, और कहा था कि ज्ञान नियम द्रव्य को आकृति देने के सांचे हैं। यह यथार्थ नहीं। वास्तव में यह नियम बुद्धि के अङ्ग हैं; इन नियमों के मिलाप से ही ज्ञान (ब्रह्माण्ड) बनता है।

हेगल के सिद्धान्त का दूसरा मुख्य नियम इस से सम्बद्ध है। यह प्रत्यय जो जगत् को बनाते हैं, आपस में साङ्ग समग्र के भागों के सदृश मिले हुए हैं। उन में से यदि एक को दूसरे से पृथक् कर दें, तो इसका अस्तित्व पहिले की तरह बना नहीं रहता। इस से एक परिणाम निकलता है, और वह हेगल का तीसरा नियम है। यदि किसी एक प्रत्यय (Notion) को लें, तो व्यापर्क के कारण उस में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। हमारी बुद्धि में व्यापर्क एक प्रधान चिह्न है। हम एक प्रत्यय को उसके साथियों से पृथक् करते हैं। जब हम इसकी परीक्षा करते हैं, तो हम को पता लगता है कि इसका विरोधी प्रत्यय भी इसके तुल्य अस्तित्व रखता है। ज्ञान नियमों या प्रत्ययों की सम्पूर्ण सूचि तय्यार करने के लिए आवश्यक है कि हम एक साधारण प्रत्यय (अस्तित्व के प्रत्यय) को लें, और देखें कि इसके विरोध हमें किन परिणामों तक पहुंचाते हैं।

(५) दृश्य जगत् का तर्क

निरपेक्ष अपना विकाश दृश्य जगत् में करता है। प्रथम अवस्था प्रकृति है, जिस में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। इस अवस्था में प्रकृति गुरुत्व रखती है, और शक्ति आकर्षण का रूप ग्रहण करती है। इस से उच्च दशा वह है जिस में प्रकृति में कई प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं। अब जो परिवर्तन प्रकृति में होता है, वह पदार्थों की अन्तरीय अवस्था को भी परिवर्तित कर देता

है। इस से उच्च दशा वनस्पति की है। वनस्पति में एक विशेष एकता विद्यमान होती है। पशुओं की अवस्था में यह एकता अधिक स्पष्ट है, और मनुष्य के शरीर में पूर्ण रूप से प्रकाशित होती है। जहां तक प्राकृत पदार्थों का सम्बन्ध है, मनुष्य का शरीर प्रत्यय के विकाश में अन्तिम पद है। किन्तु प्रत्यय इस से आगे बढ़ता है, और अपने आपको जीवात्मा के स्वरूप में प्रकाशित करता है।

(६) आत्मा का तर्क

जितने जीवात्मा जगत् में हैं, वह सब निरपेक्ष प्रत्यय के नाना रूप हैं। निरपेक्ष अपनी सिद्धि के लिए इन रूपों को धारण करता है। जिस प्रकार जल तरङ्ग समुद्र से पृथक अस्तित्व नहीं रखते, प्रत्युत् समुद्र जल के ही विशेष आकार हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी उस निरपेक्ष के नाना आकार हैं। वास्तविक अस्तित्व उस निरपेक्ष का ही है। जो कुछ बाह्य जगत या जीवात्माओं में हो रहा है, उस निरपेक्ष का ही प्रकाश है। ब्रह्माण्ड का इतिहास उस निरपेक्ष का जीवन चरित्र है, जो वह आप लिख रहा है। अच्छे बुरे का भेद वास्तव में कोई हस्ति नहीं रखता; जब तक हम भ्रम में हैं, हम ऐसे मिथ्या विश्वासों में ग्रस्त होते हैं *।

प्रत्यय के विकाश के इस भाग में भी अनेक पद हैं। पहिले और सब से निचले पद में आत्मा के सामने प्रश्न अपने आप को स्थित रखने और विषय भोग का है। इस अवस्था में मनुष्य जो कुछ करता है, विषय तृप्ति के वास्ते ही करता है। इससे उच्च दशा वह है, जिसमें मनुष्य दूसरे मनुष्यों के अधिकारों को स्वीकार करता है। अब विषय भोग के स्थान में विवाह प्रचलित होता है; और प्रतीकार का स्थान राजदण्ड ले लेता है। विवाह का उद्देश यह है कि परिवार, समाज और राज्य बन सकें। यदि विवाह इस उद्देश से नहीं होता, तो विवाह में और विषय भोग में कोई भेद नहीं। कुटम्ब, समाज तथा राज्य में, राज्य सर्वोत्तम संस्था है। राज्य के सम्बन्ध

---

* आर्यावर्त के तर्क में शङ्कराचार्य का सिद्धान्त इस से मिलता है

में भी जो वृद्धि हुई है, उस में पद दिखलाई देते हैं। आरम्भ में राजा सारे अधिकारों का स्वामि होता है; इस प्रकार के राज्य पूर्व के राज्य हैं। दूसरे पद में विस्तार होता है; प्रत्येक अपना अधिकार मांगता है, और राज्य प्रजातन्त्र होता है। अन्तिम अवस्था वह है, जहां राजा प्रजा की इच्छा के अनुसार राज्य करता है। यहां विस्तृत राज्यबल संकुचित हो जाता है। हेगल की सम्मति में अंग्रेज़ों की राज्यसंस्था आदर्श संस्था है।

परन्तु यह प्रकाश भी निरपेक्ष के विकाश में अन्तिम पद नहीं। मनुष्य आत्मा स्वतन्त्र होना चाहता है; और यह स्वतन्त्रता ललितकला (सौध निर्माण, चित्रकारी, संगीत, कविता), धर्म और तर्क से मिल सकती है। ललित कला के सन्मुख हम अपने आपको भूल जाते हैं; और एक सीमा तक ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। धर्म में जीवात्मा और परमात्मा का भेद रहता है। इन दोनों से तर्क की पदवी उच्च है। सार यह कि जहां तक हमारा ज्ञान है, निरपेक्ष के विकाश में अन्तिम पद तार्किक बुद्धि का है, जो अपने आप को साक्षात् जानती है*।

(७) शोपनहाअर (Schopenhauer)

काण्ट ने कहा था कि दृश्य जगत् का द्रव्य प्राकृत पदार्थ से आता है, और आकृति उसे आत्मा देता है। फ़ीचटे ने आत्मा को सृष्टि का स्रष्टा वर्णन किया था, और कहा था कि यह दृश्य जगत् को आकृति के साथ द्रव्य भी देता है। शैलिंग ने द्रष्टा, अहम्, के स्थान में निरपेक्ष की शिक्षा दी थी। हेगल ने इन दोनों सिद्धान्तों का मेल करके कहा था कि निरपेक्ष और द्रष्टा एक ही हैं; निरपेक्ष प्रत्यय अपने विकाश में सारे ब्रह्माण्ड को प्रगट करता है। शोपनहाअर (१७८८–१८६०) कहता है कि सृष्टि का उत्पादक नियम चेतन

---

* यह विचार उपनिषदों में कई स्थानों में मिलता है। ज्ञान की पदवी कर्म तथा भक्ति से उच्च है, और मनुष्य का अन्तिम उद्देश अपने आप को साक्षात्कार करना है। वेदान्त के अनुसार मुक्ति ऐसे ज्ञान का परिणाम नहीं, वरञ्च ऐसा ज्ञान ही मुक्ति है।

द्रष्टा या प्रत्यय से भी गहरा है। यह काण्ट का सत् (Thing-in-itself) है; यह कृति है, जिस में प्रत्येक प्रकार की चेष्टा या शक्ति सम्मिलित है। प्रकृति की आकर्षण शक्ति और पुरुषों की इच्छायें इसी के प्रकाश हैं। जड़ जगत् में यह अपना प्रकाश एक रूप (Mechanical force) में करती है; जीवित अचैतन्य जगत् में एक दूसरे रूप (Organic irritability) में करती है; चैतन्य जगत् में इसका प्रकाश एक तीसरे रूप (Psychical motive) में होता है। पहिली दो अवस्थाओं में हम शक्ति को बाहर से देखते हैं, तीसरी अवस्था में बाहर और भीतर दोनों ओर से देखते हैं। कारण का तत्व समझने के लिए हमें अपनी आत्मिक शक्ति की ओर ध्यान करना पड़ता है, और फिर उसके उपमान से हम बाह्य जगत् में भी शक्ति का अनुमान करते हैं।

'जगत् वह है, जो मुझे भासता है'। यह वाक्य मनुष्यों की अवस्था में ही सत्य नहीं, वरञ्च सारे जीवधारियों की अवस्था में यथार्थ है। किसी द्रष्टा की आत्मिक शक्तियां कुछ ही हों, उसका जगत् उन पदार्थों का समूह है, जो उसके ज्ञान में हैं। अहम् और अनहम् का भेद आवश्यक है। तर्क में अहम् अनहम् का उत्पादक है: भौतिक ज्ञान की दृष्टि से, अहम् भी अनहम् के कारणकार्य्य नियम के आधीन है। इस कठिनाई से बचने के लिए हमें मानना पड़ता है कि जब हम अहम् और अनहम् में भेद करते हैं, तो हम सत् को बाहर से देखते हैं। जब हम सत्य का साक्षात् दर्शन करते हैं, तो हमें पता लगता है कि इसका तत्त्व ज्ञान नहीं, प्रत्युत कृति है।

यह कृति अपने आपको अनहम् बनाती है। सबसे प्रथम हमारा शरीर हमारे सन्मुख आता है। यह अनहम् का भाग है, और अहम् का भी। मानसिक चेष्टा और मेरे शरीर की क्रिया दो घटनायें नहीं, जिन में कारण कार्य्य का सम्बन्ध है; वरंच एक ही घटना है, जिसे हम दोनों ओर से देखते हैं। जब मेरी चेष्टा अनहम् बनती है, तो मैं इसे शारीरिक क्रिया कहता हूं। प्रश्न होता है कि जो क्रियाएं मैं अपने से बाहर देखता हूं, क्या वह भी चेष्टाओं का अनहम्

रूप हैं ? इसका उत्तर मुझे हां में देना पड़ता है, क्योंकि इसके बिना मुझे मानना होगा कि बाह्य जगत् सारा माया का जाल है, और यह सम्मति कोई पुरुष पागल घर से बाहर नहीं रख सकता।

अनहम बनने में कृति सब से पहिले अजीवित प्रकृति का जड़रूप ग्रहण करती है। इस अवस्था में जो कुछ है, उस में गुरुत्व होता है। उसके पीछे की अवस्था भौतिक, रसायनिक और आंगिक बल हैं। इसके पीछे मानसिक बल आता है। वृद्धि में प्रत्येक पदार्थ अपने से निचले पद के पदार्थों के साथ जीता रहने के लिए युद्ध करता है। पशुओं में ज्ञान सदैव कृति के आधीन रहता है; अर्थात् जितना बोध उन्हें होता है, वह शरीर की रक्षा और वृद्धि के लिए काम में लाया जाता है। मनुष्य की विलक्षणता यह है कि वह ज्ञान को कृति की सेवा से मुक्त कर सकता है, और ऐसे पदार्थ उत्पन्न करता है जो उसके शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक नहीं। इन पदार्थों को ललित कला (Fine art) कहते हैं। इन में भी वृद्धि एक क्रम के अनुसार होती है। सब से पहिले सौध निर्माण (Architecture) आता है, पीछे चित्रकारी, उसके पश्चात् कविता, रागादि।

जब हम कृति का वर्णन करते हैं, तो हमें स्मरण रखना चाहिए, कि हम किसी विशेष पुरुष की कृति का वर्णन नहीं करते; वरञ्च उस सर्वगत कृति का वर्णन करते हैं, जो अपना प्रकाश नाना कृतियों के रूप में कर रही है।

(८) जीवन का उद्देश

मनुष्य का सारा जीवन चेष्टा का प्रकाश है। जब कभी हम चेष्टा करते हैं, तो किसी त्रुटि को दूर करने के लिए करते हैं, और त्रुटि दुःखों का मूल है। सारा जीवन दुःखों से भरा हुआ है। जब एक न्यूनता दूर होती है, तो स्वाभाविक एक नई न्यूनता उत्पन्न हो जाती है। विषयों की तृप्ति से अपने आप को शान्त करना ऐसा ही सम्भव है, जैसे घृत के छींटों से अग्नि

को बुझाना । कृति दुःखों का मूल है, इस लिए इसका नाश करना चाहिए। निर्वाण जीवन का आदर्श है । चेष्टा करना, यत्न करना छोड़ दो। जीवन का उद्देश्य जीवन दीर्घ करना नहीं, वरंच जीवन के बन्धन से मुक्त होना है। जो पुरुष आत्म हत्या से यह आदर्श सिद्ध करना चाहता है, वह भूल में है । आत्म हत्या आप एक चेष्टा है, और कृति से बचने के लिए हमारी सहायता नहीं कर सकती। इस कृति से कृतिका नाश नहीं होजाता। आदर्श जीवन हिन्दू त्यागियों का है, जो हाथ पांव हिलाना, सोचना, और हर प्रकार की क्रिया करना छोड़ देते हैं । मनुष्य मात्र के लिए इस प्रकार मर जाना अन्तिम उद्देश्य है। जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है, तो वह जीवन की निष्फलता समझने लगता है। मूर्ख लोग जीवन को पकड़ रखने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि वह भ्रान्ति में फंसे हुए हैं।

शोपनहाअर आप आनन्द से जीवन व्यतीत करता रहा; वह अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान रखता था। उसने हिन्दू त्यागियों के आदर्श का अनुकरण नहीं किया, न ही उसके शिष्यों ने इस पर आचरण किया । इसका कारण शाइद यह है कि यदि आचार्य्य इस प्रकार मर जायें, तो बेचारे मनुष्य समूह को ऐसी अमूल्य शिक्षा देनेवाला कोई न रहे, और इस से बढ़ कर कोई दुर्भाग्य नहीं हो सकता !

शोपनहाअर और उसके शिष्यों की सम्मति में जगत् में सुख से दुःख अधिक है; और ज्यों २ समय व्यतीत होता जाता है, दुःख बढ़ता जाता है । शोपनहाअर कहता है कि यदि हम कबरों को ठोकर लगावें, और मुर्दों से पूछें कि वह फिर जीवित होना चाहते हैं या नहीं, तो वह शिर हिला देंगे । शोपनहाअर ने कहा था कि उसे जर्मनी में उत्पन्न होने का शोक है; उसके एक शिष्य ने कहा कि उसे मनुष्य होने में ही लज्जा आती है। शोपनहाअर और उसके शिष्य इस जगत् को एक नर्क समझते हैं।

हिन्दू युवकों के मुख से मैं ने एक वाक्य कई बार सुना है। शोपनहाअर उपनिषदों की बाबत कहता है,'संसार में कोई पाठ इतना

लाभदायक और उच्च करने वाला नहीं, जितना उपनिषदों का पाठ है। उपनिषदों से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, और मृत्यु समय भी यह मेरे लिए शान्ति का स्रोत होंगी'। शोपनहाअर समझता था कि हिन्दू त्यागी आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं, और उपनिषदों की शिक्षा उसकी अपनी शिक्षा से मिलती है।



एकादश अध्याय

इङ्गलिस्तान का नवीन तर्क

विकाश वाद (Evolution)

उन्नीसवीं सदी में जो विचार तर्क में सर्व प्रसिद्ध है, वह विकाश वाद है। विकाश वाद के सम्बन्ध में हम निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर देने का यत्न करेंगे :—

(१) सृष्टि की वर्तमान दशा किस प्रकार से उत्पन्न हो गई है ?

(२) सृष्टि में मनुष्य का स्थान क्या है ?

(३) सृष्टि की और विशेष करके मनुष्य की अन्तिम अवस्था क्या होगी ?

(४) विकाश के सम्बन्ध में जो परिवर्तन हो रहा है, उसका स्वरूप क्या है ?

(१) वर्तमान विचित्रता किस प्रकार उत्पन्न हो गई ?

जब हम अपने इर्द गिर्द दृष्टि डालते हैं, तो सांसारिक पदार्थों की बाहुल्यता स्पष्ट प्रतीत होती है। अजीवित सृष्टि की ओर देखें, तो जल, वायु, धातु, पत्थर आदि पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं। जीवित सृष्टि में, वनस्पति की ओर देखने से अनेक प्रकार की औषधियां दिखाई देती हैं। जीवधारियों में भी अनेक प्रकार के पशु पक्षी हैं। इस बाहुल्यता को देखकर स्वाभाविक यह प्रश्न हमारे मन में उठता है, कि सारे पदार्थ सदा से इसी प्रकार एक दूसरे से भिन्न रहे हैं, अथवा कोई समय ऐसा था जब यह विचित्रता न थी, और पीछे विशेष कारणों से उत्पन्न हो गई ? क्या अनादि

काल से वर्तमान जातियां विद्यमान हैं, या आरम्भ में सत्य पदार्थ एक ही प्रकार का था, और विशेष नियमों के अनुसार पीछे इस ने नाना रूप धारण किये ?

इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न विकाश वाद करता है। विकाश वाद के अनुसार आरम्भ में एकता थी; पीछे विशेष नियमों के कारण बाहुल्यता उत्पन्न हो गई। अब हम उन नियमों का वर्णन करेंगे।

(क) प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection)

यदि हम एक बबूल की ओर देखें, तो इस में सहस्रों बीज लगते हैं, और उन में से प्रत्येक में एक बबूल उत्पन्न करने की योग्यता होती है। इन नये बबूलों में से हर एक पूरी आयु को पहुंच कर सहस्रों बीज प्रत्येक वर्ष उत्पन्न कर सकता है, और फिर उन में से प्रत्येक बीज एक वृक्ष को जन्म दे सकता है।

यदि प्रत्येक बीज जो जीवन ग्रहण करता है, एक वृक्ष को उत्पन्न करता, तो एक ही वृक्ष के बच्चे थोड़े वर्षों में ही सारी पृथ्वी को बबूलों से भर देते, और किसी अन्य प्रकार की वनस्पति या जीवधारी के लिये कोई स्थान न रहता। किन्तु ऐसा होता नहीं, और बबूलों की गणना लगभग एक सी ही बनी रहती है। इसी प्रकार कई जीवधारी ऐसे हैं जो बाल्यावस्था में ही बच्चे देना आरम्भ कर देते हैं, और एक समय पर बच्चे भी बहुत से देते हैं। यदि उन में से प्रत्येक पूरी आयु जीता रहे, तो थोड़े समय में पृथ्वी पर इन जीवधारियों का मेला लग जाय, और उनके बिना कुछ दिखाई न दे। किन्तु ऐसा नहीं होता; इन की गणना में बहुत बड़ा भेद नहीं पड़ता।

प्रश्न होता है कि क्यों प्रत्येक बीज बबूल को उत्पन्न नहीं करता ? क्यों सारी पृथ्वी एक प्रकार के जीवधारियों से ही नहीं भर जाती ? इस प्रश्न का सीधा सादा उत्तर यह है कि प्रत्येक बीज को वृक्ष बनने नहीं दिया जाता; प्रत्येक जीवधारी को अपनी

सारी आयु भोगने की आज्ञा नहीं मिलती। हमारी पृथ्वी पर न तो इतना स्थान है, और न इतना आहार ही है, कि प्रत्येक मिहमान का सत्कार कर सके। कई जीवधारी अपने बच्चों को खा जाते हैं; सृष्टि अपनी सन्तान के एक बड़े भाग के साथ ऐसा ही वर्ताव करती है। सारे पौदों और जीवधारियों के लिये स्थान और आहार नहीं, और आवश्यक है कि उन में से कुछ मृत्यु की गोद में जाकर दूसरों के लिये जीवन सम्भव बनायें; इस लिये एक प्रकार का संग्राम जारी हो जाता है।

सारा जीवन ही एक लगातार संग्राम है। इस संग्राम का परिणाम यह होता है कि कई गिर जाते हैं, और कई बच रहते हैं। इसी का दूसरा नाम प्रकृति का चुनाव (Natural Selection) है। प्रकृति अपने सारे बच्चों को जीवित नहीं रख सकती, इस लिये यह उन में चुनाव करती है, और चुने हुओं को जीता रखती है। यहां प्रश्न होता है कि यह चुनाव किसी नियम के अनुसार होता है, अथवा सर्वथा अनियमित होता है। यदि दस बच्चों में केवल दो के लिये प्रबन्ध होना सम्भव है, तो क्या यह बात निरर्थक है कि वह दो कौन से हैं? यह चुनाव एक विशेष नियम की नींव पर होता है। प्रत्येक जीवधारी जीना चाहता है, और जीने के लिये यत्न करता है। प्रश्न यह है कि कौन सा बच्चा पर्याप्त यत्न कर सकता है, या किसके लिये पर्य्याप्त यत्न किया जाता है? उत्पत्ति लगभग अनन्त है; निवास स्थान और आहार सीमित हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति चुनाव करती है, और जो जीते रहने के योग्य हैं, वह जीते रहते हैं। वनस्पति में चैतन्य यत्न विद्यमान नहीं, किन्तु चुनाव वहां भी होता है। जितने बीज एक वृक्ष से गिरते है, वह सारे वृक्ष उत्पन्न नहीं कर सकते। कारण यह है कि कई रेत में गिरते हैं, कइयों को पक्षी खा जाते हैं, कइयों को जल नहीं मिलता। जो वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उन में कुछ हल चलाते समय उखड़ जाते हैं, कुछ दांतन बन जाते हैं, कुछ पशुओं के मुंह में जा पड़ते हैं। इसी प्रकार का चुनाव जीवधारियों में होता है। भेद यह है कि जीवधारी इस संग्राम में दुःख सुख को अनुभव करते हैं, और वनस्पति की दशा में प्रायः ऐसा नहीं होता।

संग्राम में वह बच रहता है, जो बचने के योग्य होता है। इस योग्यता का क्या अभिप्राय है? वह कौनसा गुण है, जो इस संग्राम में एक जीवधारी को दूसरों की अपेक्षा जीने का अच्छा अवसर देता है? कौनसा भेद है, जिसके कारण, जहां सैकड़ों मृत्यु के पंजे में फंस कर नाश होजाते हैं, वहां एक विशेष जीवधारी बच रहता है? जो जीवधारी अथवा वृक्ष अपने हालात के अनुसार होता है, वह बच रहता है; जिस की अवस्था में यह अनुकूलता नहीं होती, वह नाश होजाता है, या भद्दा अथवा दुःखी जीवन व्यतीत करता है। प्रतिवेश के अनुकूल होना (Adaptation to Environment) जीते रहने के योग्य होने का दूसरा नाम है। अतिशीत में कौन पुरुष सुख से जीवन व्यतीत करता है? वह पुरुष, जो अपने आप को इस प्रतिवेश के अनुसार बना सकता है; जो आग जलाकर कमरे में बैठता है, या अपने शरीर को गर्म कपड़ों से ढांप लेता है, या जिसका चमड़ा ही ऐसा बना हुआ है कि इन्द्रिय सुषि या अभ्यास के कारण शीत उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता। वनस्पतियों में जो वृक्ष गर्म देशों में फलते फूलते हैं, वह ठंडे देशों में बढ़ नहीं सकते। यदि उन देशों में उन्हें उत्पन्न करना हो, तो विशेष साधनों से गरमी उत्पन्न करनी पड़ती है।

जीवन का यह बड़ा नियम कि जो जीवधारी अपने आपको प्रतिवेश के अनुकूल बना सकता है,वह जीता रहने के लिए चुना जाता है,हर तरफ़ काम करता दिखाई देता है। विकाश वादि कहते हैं कि ऐसा सदा से होता आया है। अब हम देखते हैं कि माता पिता में सन्तान उत्पत्ति की चेष्टा है, और वह उत्पन्न हुई २ सन्तान से प्रेम करते हैं। बहुत प्राचीन समय में प्रत्येक जीवधारी की अवस्था में ऐसा न था। कुछ जीवधारी ऐसे थे जिनमें यह चेष्टा और यह भाव विद्यमान थे। कुछ ऐसे भी थे, जिन में या तो सन्तान उत्पत्ति की चेष्टा ही न थी, और यदि यह चेष्टा थी, तो उत्पत्ति के पीछे सन्तान के साथ प्रेम करने और उस की रक्षा करने की इच्छा न थी। इस दूसरी श्रेणी के जीवधारी पृथ्वी पर फैल नहीं

सकते थे ; पहिली श्रेणी के जीवधारी प्रतिवेश के अधिक अनुकूल थे, उन की जाति स्थित रही ।

(ख) बीज परम्परा का नियम (Heredity)

इस के अतिरिक्त यह नियम भी काम करता था, कि जो गुण एक नसल की व्यक्तियों में चुनाव का कारण हुआ, दूसरी नसल में भी उसका प्रकाश हुआ । यदि माता पिता की अवस्था में सन्तान उत्पत्ति की चेष्टा और सन्तान से प्रेम का भाव लाभदायक गुण थे, तो इन गुणों ने बच्चों के जीवन में भी प्रवेश किया । ज्यों२ समय व्यतीत होता गया, यह गुण अधिक प्रधानता प्राप्त करते गये । विकाश वाद का दूसरा मुख्य नियम यह है कि माता पिता के लाभदायक गुण सन्तान तक पहुंचते हैं । समय व्यतीत होने पर इन में थोड़ा परिवर्तन भी होता जाता है,और बहुत समय के पीछे नये जीवधारियों और उनके पूर्वजों में बहुत भेद प्रतीत होने लगता है । यह एक बड़ा कारण है, जिस ने सृष्टि में इतनी बाहुल्यता उत्पन्न कर दी है ।

(ग) लैंगिक चुनाव (Sexual Selection)

इस प्रकार के प्राकृतिक चुनाव के अतिरिक्त एक और प्रकार का भी चुनाव होता है । यह लैङ्गिक चुनाव है । यदि एक पुरुष हो और पांच स्त्रियां हों और वह पुरुष केवल एक स्त्री को ग्रहण कर सकता हो, तो स्वाभाविक वह उस स्त्री को ग्रहण करेगा, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक सुन्दर और स्वस्थ है । कुरूप, निर्बल और अस्वस्थ स्त्रियों के लिये ऐसी स्त्री की अपेक्षा फलने फूलने के अवसर थोड़े हैं । सुन्दर और स्वस्थ स्त्री की सन्तानों में जो कुरूप और अस्वस्थ होंगी, उन के लिए भी बच रहने का अवसर थोड़ा होगा । इसी प्रकार यदि एक स्त्री के साम्हने कई नर हैं, और वह उन में से एक को ग्रहण कर सकती है, तो वह भी सुन्दर और बलवान् नर को चुनेगी । इस कारण से केवल यही नहीं होता कि बहुत सी व्यक्तियों में कुछ बच रहते हैं, प्रत्युत यह भी होता है कि सन्तान अपने माता पिता से अच्छी होती जाती

है, और बहुत समय व्यतीत होने पर बहुत भेद उत्पन्न हो जाता है।

अगर हम चाहें, तो हम इस चुनाव को प्राकृतिक चुनाव की एक विशेष हालत समझ सकते हैं। सुन्दर और बलवान् नर कुरूप और अस्वस्थ्य नरों की अपेक्षा अपने प्रतिवेश के अधिक अनुकूल होता है। यहां प्रतिवेशों के भेद का एक बड़ा अंग यह है कि स्त्री कैसे नर को पसन्द करती है*।

प्राकृतिक चुनाव और लैङ्गिक चुनाव डार्विन की दरयाफ्त समझे जाते हैं।

(घ) अङ्गों का प्रयोग और अप्रयोग

(Use and Disuse of Organs)

जगत् के विकाश में एक और नियम भी काम करता है, और उस पर लैमार्क ने ज़ोर दिया है। वह यह है कि जब कोई जीवधारी किसी विशेष काम की आवश्यक्ता अनुभव करता है, तो उसे काम के लिये उसे एक अङ्ग मिल जाता है। अगर इस अङ्ग को वर्ताव में लाया जावे, तो यह अङ्ग बढ़ता है; अगर किसी अङ्ग को वर्ताव में न लाया जाय, तो वह नष्ट हो जाता है।

आरम्भ में कई जीवधारियों ने अनुभव किया कि शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिये उन के पास कोई शस्त्र होना चाहिये। सिर आगे बढ़ा हुआ होता है, और इस से एक पशु दूसरे पर प्रहार कर सकता है: इसलिये इन जीवधारियों ने अनुभव किया कि सिर दृढ़ होना चाहिये। इस आवश्यक्ता को पूरा करने के लिये कई जीवधारियों के शिर का एक भाग विशेष करके दृढ हो गया; और इस भाग का वर्ताव होने से सींग पैदा हो गये। इस विशेष श्रेणी में जिन पशुओं को इस प्रकार का दृढ़

* मनुष्यों में नर की अपेक्षा स्त्री अधिक सुन्दर होती है; पशु पक्षियों में प्रायः नर सुन्दर होता है। यह भेद क्यों है? विकाशवाद के नियम का वर्ताव करके पाठक उत्तर दें।

भाग नहीं मिला था, वह दूसरों की अपेक्षा घाटे में थे, और उनके बच रहने के अवसर भी अधिक न थे।

इसी प्रकार यदि किसी अङ्ग को बर्ताव में न लाया जाय, तो प्रकृति वह अंग छीन लेती है। उदाहरण के लिये हम मनुष्य के कान को ले सकते हैं। घोड़े के कान लम्बे हैं, वह इन को हिला सकता है और किसी विशेष दिशा से आते हुए शब्द को भली प्रकार सुनने के लिये इन्हें आगे पीछे कर सकता है। मनुष्य अपने वाह्य कान को इस तरह हिला नहीं सकता। कई विकाशवादियों का विचार है कि प्राचीन समय में मनुष्य के कान भी लम्बे थे, और वह भी घोड़ों की तरह इन्हें हिला सकता था। किन्तु मनुष्य ने बुद्धि में उन्नति करना आरम्भ किया, और अपनी रक्षा के लिये कानों पर बहुत निर्भर न रहा। परिणाम यह हुआ कि वाह्य कान घटने लगे, और अब सुनने के लिये बिल्कुल निकम्मे हैं। समय आयगा जब वाह्य कान सर्वथा लुप्त हो जायेंगे। हां, यदि इन के लिये कोई और विशेष काम निकल आयेगा, तो बच रहेंगे *।

(ङ) प्रतिवेश का परिवर्तन

ऊपर कहा गया है कि जीवन की स्थिति के लिये अपने आप को प्रतिवेश के अनुकूल बनाना आवश्यक है। जीवधारियों का प्रतिवेश सदा एकसा नहीं रहता। जहां समुद्र था वहां पहाड़ निकल आते हैं। जहां पहाड़ थे, वहां झील उपस्थित हो जाती है। सरदी गर्मी, जल वायु आदि में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन जीवधारियों और वनस्पति में परिवर्तन करता है, और संसार के विकाश में एक बड़ा अंग है।

---

* मेरे कई मित्र कहते हैं कि कान के इस भाग के लिये काम निकल आया है। स्कूलों में अध्यापक पाठ न याद करने के लिए लड़कों के कान खैंचते हैं, और जब विद्यार्थी कालिज में आता है, तो उसे ऐनक के लिये कान की आवश्यक्ता होती है।

हमने प्रश्न किया था कि सृष्टि में जो इतनी जातियां विद्यमान हैं, यह कहां से आ गई हैं ? इस प्रश्न का जो उत्तर विकाश वाद देता है, वह एक सीमा तक हम ने देखा है, और वह यह है :—

(१) प्रकृति अपने सारे बच्चों को एक दृष्टि से नहीं देखती । जिन में जीता रहने की योग्यता है, उन्हें जीता रखती है ; दूसरों को मृत्यु के मुंह में डाल देती है। यह सब से बड़ा नियम है, जो संसार के विकाश में काम करता है।

डार्विन और वालेस ने इस पर ज़ोर दिया है।

(२) लैङ्गिक चुनाव के नियम के अनुसार नर और स्त्री अपने से अन्य लिङ्ग की व्यक्तियों में से चुनाव करते हैं।

यह नियम भी डार्विन की दर्याफ्त समझा जाता है।

(३) यदि कोई जीवधारी किसी काम की आवश्यक्ता अनुभव करता है, तो इस काम के करने के लिए एक अंग उत्पन्न किया जाता है। अगर इस अंग को वर्ताव में लाया जावे,तो यह अंग बढ़ता है। अगर किसी अंग को वर्ताव में न लाया जावे, तो वह नष्ट हो जाता है, यद्यपि प्रकृति उतवाली नहीं करती।

इस नियम पर लैमार्क और डार्विन ने ज़ोर दिया है। इस नियम का पहिला भाग विकाश में मानासिक अंग है।

(४) इन नियमों से निचले दर्जे पर, किन्तु एक आवश्यक नियम यह है कि जीवधारियों के प्रतिवेश में भी परिवर्तन होता रहता है, और यह परिवर्तन जीवधारियों की अवस्था में भेद करता है।

इस नियम पर बफ्फ़न ने ज़ोर दिया है, और डार्विन भी इसे स्वीकार करता है।

(५) जो अंग या गुण किसी जीवधारी के जीवन के लिए लाभकारी हो, वह उस से उस की सन्तान तक पंहुचते हैं ; और शनैः २ सन्तान अपने माता पिता से भिन्न और उत्तम होती जाती हैं।

(२) सृष्टि में मनुष्य का स्थान

दूसरा प्रश्न जिस का उत्तर विकाशवाद देना चाहता है, यह है कि सृष्टि में मनुष्य का स्थान क्या है ?

जो लोग विकाशवाद के अनुयायी नहीं, वह समझते हैं कि मनुष्य वनस्पति से नहीं, प्रत्युत पशु पक्षियों से भी स्वभाव में सर्वथा भिन्न है। विकाश वादि सारे जीवित जगत को एक कुटम्ब समझते हैं, और मनुष्य को इस परिवार में सब से छोटा या सब से बड़ा मैम्बर समझते हैं। सब से छोटा समय की अपेक्षा से; क्योंकि विकाशवाद के अनुसार सब से पहिले जीवन का प्रकाश वनस्पति में हुआ, इसके पीछे निकृष्ट जीवधारी उत्पन्न हुए, उन के पीछे उन से उच्च जीवधारी, और अन्त में मनुष्य जीवन की नाटक शाला में उपस्थित हुआ। इस तरह मनुष्य जाति अन्य जातियों से आयु में छोटी है। किन्तु उन्नति की सीढ़ी के सब से ऊंचे जीने पर उसका स्थान है, और इस दृष्टि से मनुष्य जीवधारियों के कुटम्ब में सब से बड़ा है।

यदि विकाश वादियों से हम पूछें कि मनुष्य क्या है ? तो वह उत्तर देते हैं कि मनुष्य एक दूध पिलाने वाला पशु है। विकाश वाद की बावत जो विचार सर्व साधारण में प्रचलित है, वह यह है कि मनुष्य बन्दर की सन्तान है। यह मिथ्या है। विकाश वाद के अनुसार मनुष्य, बन्दर, हाथी, कौवा, मेंडक और कांटे एक ही पिता की सन्तान हैं। सारे पदार्थों का मूल कारण प्रकृति और उसकी क्रिया है। भेद केवल इतना है कि बन्दर मनुष्य का निकट सम्बन्धी है, अन्य पशु दूर के, और वृक्ष उन से भी दूर के सम्बन्धी हैं।

मनुष्य को एक दूध पिलाने वाला पशु समझने के लिए, विकाश वाद के अनुयायी नम्न लिखित हेतु देते हैं :—

(१) शरीर की बनावट की दृष्टि से मनुष्य एक पशु है। उस की हड्डियां, पट्ठे, नसें, दिमाग, सब कुछ, अपनी बृद्धि में पशुओं के अंगों से मिलता है।

(२) मनुष्यों और पशुओं के रोग एक प्रकार के हैं ; और ऐसा भी होता है कि मनुष्यों से रोग पशुओं को लग जायें, और पशुओं से मनुष्यों को।

(३) कई औषधियां मनुष्यों और पशुओं पर एक ही असर करती हैं।

(४) मनुष्य के शरीर में कई छोटे २ जीवधारी (Parasites) रहते हैं, और वैसे ही दूसरे पशुओं के शरीर में भी रहते हैं।

(५) मनुष्य के घाव उसी रीति से अच्छे होते हैं, जिस तरह पशुओं के घाव होते हैं।

(६) सन्तान उत्पत्ति की रीति आरम्भ से अन्त तक मनुष्य में और इन पशुओं में एक ही है।

(७) जिस प्रकार पशुओं की अवस्था में कई मूल-अंग (Rudiment) पाये जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य की अवस्था में भी पाये जाते हैं।

(८) यदि हम मनुष्य की गर्भ की अवस्था और दूध पिलाने वाले पशुओं की गर्भ की अवस्था को देखें, तो इन में बहुत समानता प्रतीत होगी।

(३) भूत और भविष्यत्

इस समय हम संसार को एक अवस्था में देखते हैं। इस से पहिले इसकी अवस्था क्या थी, और आगे क्या होगी ?

प्रश्न के पहिले भाग का उत्तर एक सीमा तक हम दे चुके हैं। विकाश वाद के अनुसार एक समय था जब वर्तमान बाहुल्यता विद्यमान न थी। प्रकृति और उसकी क्रिया एक ही अवस्था में थीं, और उनके परिवर्तनों ने हमारे वर्तमान जगत् को बना दिया है। आने वाली अवस्था की बाबत कहा जाता है कि फिर यह बाहुल्यता लुप्त हो जायगी, और एकता उसका स्थान लेगी। जो कुछ बना है, सब टूट जायगा, और आकार रहित प्रकृति के बिना कुछ नहीं

होगा। यह विचार प्राचीन आर्यों के उस विचार से मिलता है, जो उन्हों ने सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय की बावत प्रगट किया है।

मनुष्य की आने वाली अवस्था क्या है? मनुष्य की उत्पत्ति से पहिले प्रकृति का यत्न यह था कि पुरानी जातियों से नई उत्तम जातियां उत्पन्न करे। इस सारे क्रम का अभिप्राय मनुष्य को उत्पन्न करना था। जब मनुष्य उत्पन्न हुआ, तो प्रकृति के विकाश ने अपना मार्ग बदल लिया। पहिले उन्नति ऊपर की ओर थी; मनुष्य के उत्पन्न होने के पीछे ऐसी उन्नति की आवश्यक्ता न रही, और इस लिये उन्नति अन्दर की ओर होनी आरम्भ हुई। पहिले नये २ शरीर बनाने की आवश्यक्ता थी; अब मनुष्य के मन को उज्वल करने की आवश्यक्ता है। अब वि काश का अभिप्राय सभ्यता में उन्नति करना है। ज्यों २ समय व्यतीत होता जायगा, मनुष्य अपने प्रतिवेश के अधिक अनुकूल होता जायगा। अन्त में यह अनुकूलता पूर्ण होगी; दुःख का ही नहीं, किन्तु पाप का भी लोप होगा, और सच्चे अर्थों में सत्ययुग आयेगा।

(४) विकाश का स्वरूप

हम ने देखा है कि सृष्टि में एक महान परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन का स्वरूप क्या है? हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार विकाश एक ऐसा परिवर्तन है जिस में एकता का स्थान बाहुल्यता ले लेती है; अमिश्रत पदार्थ मिश्रत बन जाता है; जो कुछ अनियत था, नियत हो जाता है।

अजीवित सृष्टि में विकाश वाद के अनुसार एक प्रकार के बिखरे हुए द्रव्य से नाना प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न हो गई हैं।

जीवधारियों के शरीर में भी हम यह परिवर्तन देखते हैं। निकृष्ट जीवधारियों का शरीर एक प्रकार का होता है; उन्नत जीव धारियों के शरीर में एकता की जगह बाहुल्यता होती है। एक भाग (चक्षु) केवल देखता है, और वही भाग देख सकता है। दूसरा भाग (कान) केवल सुनता है, और वही सुन सकता है। यही अवस्था दूसरे अङ्गों की भी है। अति निकृष्ट जीवधारियों की

अवस्था में आंख, कान, आदि का भेद नहीं होता।

यही परिवर्तन हम मनुष्य के आत्मा में देखते हैं। उन्नत आत्मा के विचार एक दूसरे से अधिक भिन्न और अधिक नियत होते हैं।

समाज के जीवन में भी यह परिवर्तन दिखाई देता है। असभ्य जातियों में सारे पुरुष एक ही प्रकार के होते हैं; प्रत्यक कुटम्ब में खेती करने, आटा पीसने, खाना पकाने, कपड़े सीने और धोने, और मकान की मुरम्मत करने का प्रबन्ध होता है। इसके विरुद्ध सभ्य समाज में एक विशेष श्रेणी खेती का काम करती है, दूसरी कपड़े सीती है, तीसरी कपड़े धोती है, इत्यादि। सभ्य समाजों में प्रत्येक भाग एक ही काम करता है, और वही भाग उस काम को कर सकता है।



GLOSSARY.



Absolute–निरपेक्ष
Abstraction–व्यापकं
Abstract idea–सामान्य प्रत्यय
Aesthetics–सौन्दर्य विद्या
Analytic–व्यवच्छेदक
A priori–नैसर्गिक
Being–हस्ति, अस्तित्व
Biology–जीवन विद्या
Botany–बनस्पति विद्या
Cause–कारण
„ efficient–निमित्त कारण
„ material–उपादान कारण
„ final–उद्देश कारण
„ formal–आकार कारण
„ occasinal–अवसरदायक कारण
Chemistry–रसायन
Conservation–स्थिति
Criticism–परीक्षात्मकवाद
Culture–तरबीयत
Cyrenaicism–अतिसुखवाद
Definition–लक्षण
Discernment–विवेक
Dogmatism–युक्ति निरपेक्षवाद
Eclecticism–सारसंग्रहवाद
Ego–अहम्, आत्मा
Environment–प्रतिवेश

Epicureanism–सुखवाद
Ethics–आचार शास्त्र
Evolution–विकाशवाद
Exact–यथार्थ
Form–आकार
Heredity–बीजपरम्परा
Idea–आकार, प्रत्यय, आदर्श
Ideas of reason–बुद्धि के प्रत्यय
Idealism–भावप्रधानवाद
Immaterialism–चेतन्यवाद
Impression–उत्पन्न
Induction–व्याप्ति, आगमन
Innate idea–नैसर्गिक भाव
Instinct–सहजबुद्धि
Intelligence–बुद्धि
Intuitive–नैसर्गिक
Judgment–नियामक बुद्धि
Law of thought–आत्मिक नियम
Logic–न्याय
Mathematics–गणित
Matter–सामग्री, द्रव्य, प्रकृति
Memory–स्मृति
Metaphysics–तर्क
Mode–प्रकार
Monad–चैतन्याणु
Mythology–पौराणिक कथा
Nature–व्यक्त
Neo-platonism–ब्रह्मसाक्षात्कारवाद
Nihilism–शून्यवाद
Nominalism–नामवाद

Non-ego–अनहम, अनात्मा
Normative science–आदर्श शास्त्र
Organic–साङ्ग
Organic whole–गठित समग्र
Pan-egoism–अहंवाद
Pan-logism–चिद्वाद
Particular–प्रत्येक
Perception–उपलब्धि, प्रत्यक्ष
Pessimist–दुःखवादी
Phenomenalism–द्रव्याभाववाद
Physics–भौतिक विज्ञान
Pineal gland–तृतीय चक्षु
Practical reason–कृत्य बुद्धि
Predicate–विधेय
Pre-existence–प्रागभाव
Proportion–तुल्यता
Psychology–मनोविज्ञान
Pure reason–शुद्धबुद्धि
Realism–जाति स्वातन्त्र्यवाद
Scepticism–सन्देहवाद
Science–विज्ञान
Selection, Natural–प्राकृतिक चुनाव
„ , Sexual–लैंगिक चुनाव
Sociology–सामाजिक शास्त्र
Soul–आत्मा
Stoicism–त्यागवाद
Substance–द्रव्य
Universal–जाति

